कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

ग्रन्थावली

तृतीय खण्ड

काव्य-खण्ड द्वितीय भाग

माँ सावित्री फाउन्डेशन
की ओर से एकाधिकारी वितरक

लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग
प्रयागराज-211 001
वेबसाइट : www.lokbhartiprakashan.com
ईमेल : info@lokbhartiprakashan.com

शाखाएँ- 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002
अशोक राजपथ, साइंस कालेज के सामने
पटना-800 006
36 ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700 017

पहला संस्करण : 2022
गणपति ओवरसीज़
लखनऊ द्वारा मुद्रित

KUNWAR CHANDRAPRAKASH SINGH
GRANTHAWALI

Chief Editor : Shiv Mohan Singh
Shashi Prakash Singh

ISBN : 978-93-93603-13-5

पाँच खण्डों का संयुक्त
मूल्य : ₹ 4800/-

आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ग्रन्थावली

तृतीय खण्ड

(काव्य खण्ड द्वितीय भाग)

प्रबन्ध सम्पादक एवं संरक्षक

डॉ. रवि प्रकाश सिंह

प्रधान सम्पादक

शिव मोहन सिंह **शशिप्रकाश सिंह**

सम्पादक मण्डल

डॉ. राम कठिन सिंह **श्रीमती सुषमा सिंह**

श्रीमती मीना सिंह **भक्तिवर्धन सिंह**

श्रीमती सुमन

माँ सावित्री फाउन्डेशन

की ओर से

लोकभारती प्रकाशन

आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

जन्म-शारदीय पूर्णिमा सं0 1967 तद्नुसार 18 अक्टूबर 1910

अमृतत्ववरण- पापाँकुशा एकादशी सं0 2054 तद्नुसार 12 अक्टूबर 1997

श्रीमती सावित्री देवी

जन्म - 30 मई 1919

अमृतत्ववरण- 05 अगस्त 1980

अनुक्रमणिका

क्रम.	विषय		पृष्ठ संख्या
1.	सम्पादकीय	शिवमोहन सिंह	XI-XLV
2.	ऋतम्भरा		01-102
3.	वृन्दावन		103-168
4.	जीवन आसपास		169-278
5.	घनमाला		279-360

सम्पादकीय

भारत की स्वतंत्रता के अमृत महोत्सव वर्ष में महाकवि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह की दीर्घकालीन काव्य साधना के कविता संग्रहों की ग्रंथावली का दूसरा तथा तीसरा खण्ड–काव्यखण्ड– हिन्दी के विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। हमें विश्वास है कि 'चिन्मय रस' की मंगल वृष्टि करने वाले इस कवि की यह ग्रंथावली, छायावाद के शताब्दी व्यापी कुहासे को छाँटने में सफल होगी। हिन्दी जगत प्रारंभ से ही छायावाद विशेष रूप से निराला का विरोधी रहा है। यही कारण है कि छायावाद का सच्चा स्वरूप आज तक उद्घाटित नहीं हो सका है। कुँवर साहब निराला के अनन्य भक्त रहे हैं, इसलिए वे भी हिन्दी जगत के कोप से बच नहीं सके। जबकि सच यही हैं कि यदि निराला छायावाद के प्रवर्तक कवि हैं, तो कुँवर साहब इस काव्य–धारा की कविता के उन्नायक कवि हैं। उनकी जीवन व्यापी काव्य साहित्य साधना के आधार पर उन्हें छायावाद का उन्नायक महाकवि माना जाना चाहिए और उनकी काव्य भाषा को भावों के अनुरूप उनके काव्यादर्श का अन्यतम रूप। उनका शब्द चयन एवं शब्द विन्यास उन्हें अन्य छायावादी कवियों की तुलना में उनकी निजता को प्रमाणित करते हैं। परन्तु हिन्दी कविता का यह परम दुर्भाग्य है कि हिन्दी जगत उन्हें समुचित आदर नहीं देना चाहता। हिन्दी के सामान्य पाठक को यदि छोड़ भी दिया जाये, तो छायावाद के प्रकाण्ड पण्डित भी उन्हें पहचान नहीं सके हैं। कुँवर साहब के जन्मशती वर्ष में यह अनुभव किया गया था कि यद्यपि उनका समस्त काव्य प्रकाशित है, तथापि हिन्दी जगत उनके काव्य से पूरी तरह से अनभिज्ञ है। इसलिए उनकी काव्य साहित्य साधना की ग्रंथावली के प्रकाशन की योजना बनाई गई थी।

कुँवर साहब की ग्रंथावली का प्रथमखण्ड–महाकाव्य–खण्ड प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी जगत में इसका समुचित स्वागत हुआ है। ग्रंथावली के प्रथम खण्ड के प्रकाशन के साथ साथ 'शब्दिता' पत्रिका का एक विशेषांक 'ऋषि परम्परा के महाकवि' भी प्रकाशित हो चुका है। इस विशेषांक ने कुँवर साहब के साहित्य को समझने और समझाने में विशेष योगदान दिया है। इसके लिए हम सभी 'शब्दिता' पत्रिका के प्रधान सम्पादक प्रो0 रामकठिन

सिंह के प्रति आभारी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में कुँवर साहब की काव्य साधना के लगभग वे सभी गीत तथा कविताएँ संकलित हैं, जिनका प्रणयन सन् 1930 ई0 से लेकर सन् 1996 ई0 के मध्य हुआ था। इस खण्ड में कुँवर साहब की ६६ वर्षों की साधना का अभिलेखीय साक्ष्य है जो न केवल कुँवर साहब की साहित्य–साधना को प्रमाणित करता है, अपितु इस बात का दस्तावेज भी है कि कुँवर साहब ने अपनी काव्य साधना से छायावाद को शताब्दी व्यापी व्यक्तित्व प्रदान किया था।

कुँवर जी की काव्य साधना में निरन्तर सक्रियता के कारण उनकी अनेक काव्य–कृतियाँ, नाटक, तीन महाकाव्य, शोध–ग्रन्थ तथा समालोचना ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इन पद्य तथा गद्य रचनाओं के अतिरिक्त उनके द्वारा वेदों के पद्यानुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। यही नहीं, वे आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ खोजकर्ता भी बने। नागरी प्रचारिणी सभा को छोड़कर इतने दुर्लभ ग्रंथों की पाण्डुलिपियों की खोज, किसी विश्वविद्यालय के किसी अन्य आचार्य द्वारा संभव नहीं हो सकी है। खोज का यह दुर्लभ कार्य, कुँवर जी ने अपने गुजरात के सीमित कार्यकाल में, संभव कर दिखाया था।

कुँवर जी ने वर्ष 1958 ई0 में युवराजदत्त महाविद्यालय लखीमपुर खीरी (उ0प्र0) को छोड़कर उसी वर्ष एम0एस0 विश्वविद्यालय बड़ौदा, गुजरात के स्नातकोत्तर स्तर के विभागाध्यक्ष का कार्यभार सँभाला था। यहाँ आकर कर्मवीर आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने अनेक संघर्षपूर्ण चुनौतियों को अंगीकार किया। इन चुनौतियों में पहली चुनौती, थी, इस अहिन्दी भाषा भाषी प्रान्त के विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को भारत के प्रख्यात विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के समकक्ष खड़ा करना। उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार कर मात्र तीन वर्ष की सीमित अवधि में ही इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को शोध–केन्द्र बनाने में सफलता प्राप्त की। कुँवर जी शोध–निदेशक बने और उन्होंने अपने विभाग के प्रथम बैच के तीनों छात्रों को शोध के लिए पंजीकृत कराया। इसी के साथ ही कुँवर जी तुलसी चतुश्षती वर्ष का सफल आयोजन भी किया था। इस समारोह में सहभाग करने के लिए कुँवर जी ने भारतवर्ष के प्रायः उन सभी आचार्यों को आमंत्रित किया था, जो तुलसीदास के अधिकारी विद्वान माने जाते थे। कुँवर जी के आमंत्रण पर (1) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, (2) आचार्य हजारी प्रसाद

द्विवेदी, (3) डॉ0 नगेन्द्र, (4) आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (5) डॉ0 भगीरथ मिश्र, (6) डॉ0 उदयभानु सिंह आदि आचार्यों ने उपस्थित होकर इस त्रिदिवसीय समारोह को सफल बनाने में अपना योगदान दिया था।

दूसरी बड़ी चुनौती, इस अहिन्दी भाषा भाषी प्रदेश में हिन्दी भाषा का प्रसार प्रचार करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय के समस्त शिक्षक तथा गैरशिक्षक कर्मचारियों को हिन्दी का ज्ञान अर्जित करने के लिए हिन्दी विषय अनिवार्य करा दिया था। इस योजना में विश्वविद्यालय के कुलपति तथा कुल सचिव को भी हिन्दी योग्यता का प्रमाणपत्र अर्जित करना अनिवार्य था। इसके लिए एक पूर्णकालिक शिक्षक की नियुक्ति का प्रावधान था। इसकी नियमित पढ़ाई के लिए कुँवर जी ने विश्वविद्यालय के हिंदी–विभाग के प्रथम बैच के अपने सुयोग्य शिष्य डॉ0 प्रतापनाथ झा को नियुक्त किया था। यह योजना इतनी कारगर हुई थी कि विश्वविद्यालय के अनेक छात्र छात्राओं ने भी हिन्दी में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए कुलपति महोदय से आग्रह किया था। कुलपति जी के आग्रह पर इन इच्छुक छात्र–छात्राओं को स्वयं कुँवर जी ही सप्ताह में दो बार कक्षा लेते थे।

तीसरी महत्वपूर्ण चुनौती जिसे कुँवर साहब ने अंगीकार किया था वह थी राजदरबारों तथा अन्य स्थानों पर दबे दुर्लभ ग्रंथों की पाण्डुलिपियों की खोज। उन्होंने इन दुर्लभ पाण्डुलिपियों की खोज ही नहीं की, वरन् उनका सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित भी कराया था। ये पाण्डुलिपियाँ आज भी एम0एस0 विश्वविद्यालय में सुरक्षित हैं। दुर्लभ ग्रन्थों की खोज की प्रेरणा कुँवर जी को अपने महान गुरु बाबू श्यामसुन्दर दास से मिली थी। बाबू जी ने दुर्लभ ग्रंथों की पाण्डुलिपियों की खोज नागरी प्रचारणी सभा के माध्यम से करायी थी, जबकि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह जी ने यह कार्य स्वयं अकेले किया था। इन अन्यान्य व्यस्तताओं के बाद भी उनका सृजन कभी मन्द नहीं पड़ा।

कुँवर साहब अपने जीवन काल में यद्यपि अनेक समस्याओं तथा चुनौतियों से घिरे रहे, तथापि उन्होंने अपनी कवि–प्रतिभा को जीवन्त रखने में सफल हुए थे। उन्हें अपनी व्यस्तताओं से जब कभी समय मिलता तब वे अपनी काव्यसाधना में लीन हो जाते थे। वे महाकवि निराला के सान्निध्य में आने के बाद इस आन्दोलनजीवी कविता के युग में छायावादी भाव–भूमि पर

अन्त तक पूरी दृढ़ता से संस्थित रहे। वे निराला के परम भक्त शिष्य थे। निराला अकेले लड़े। दैन्य और पलायन वे जानते नहीं थे। कुँवर जी भी अकेले लड़े और अपना लोहा मनवाया। दैन्य और पलायन वे भी नहीं जानते थे। उनका काव्य भारतीयता का पर्याय है। उनकी काव्य भाषा स्वतः यह प्रमाणित करती है कि हिन्दी संस्कृत की सच्ची उत्तराधिकारिणी ही नहीं, वह स्वयं आधुनिक संस्कृत है। 'शम्पा' के मातृभूमि से संबधित गीत तथा विजया की कविता को विभक्ति हीन संस्कृत ही कहा जायेगा। कुँवर जी के समान संस्कृत निष्ठ प्रांजल काव्यभाषा लिखने वाला दूसरा कवि नहीं जन्मा।

छायावाद कोई साधारण काव्य–प्रवृत्ति नहीं है। यह आधुनिक कविता की सर्वोत्तम काव्य–प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को शताब्दी व्यापी व्यक्तित्व प्रदान करके छायावाद के पंच परमेश्वरों– (1) निराला, (2) प्रसाद, (3) पन्त, (4) महादेवी वर्मा, (5) आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने छायावाद को विश्व–काव्य के समकक्ष स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। इन कवियों में आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का योगदान महत्त्वपूर्ण है। हम कुँवर साहब की उपेक्षा करके छायावाद की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। जो लोग कुँवर साहब को छायावाद का कवि नहीं मानते हैं, उन्हें कुँवर साहब के सहपाठी, प्रगतिवादी समीक्षा के प्रमुख आचार्य तथा कवि डॉ0 रामविलास शर्मा को ठीक से पढ़ना चाहिए।

डॉ0 रामविलास शर्मा ने सन् 1943 ई0 में 'माधुरी' के जुलाई अंक में लिखा था कि– 'शम्पा' और 'मेघमाला' में छायावादी कविता अपने पूर्ण विकास पर है। पर जिन दिनों ये रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं, उन दिनों हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रगतिवादी आन्दोलन का सूत्रपात हो चुका था। डॉ0 कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह को समीक्षकों ने केवल स्वच्छंदतावादी और आदर्शवादी कवि मानकर उनके काव्य के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों की उपेक्षा की है।''

छायावाद के अभ्युदय के सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी हमारी विश्वविद्यालयीय हिन्दी–समीक्षा छायावादी कवियों की काव्य–साहित्य–साधना से आज तक अपरिचित ही है। हिन्दी–समीक्षा का दारिद्र्य इस बात में है कि वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओं और स्थापनाओं से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकी है। हिन्दी–समीक्षा आज भी आचार्य शुक्ल के इर्द–गिर्द घूमती रहती है। वह आज भी वही घिसा–पिटा राग अलाप रही है

कि छायावाद के कुल चार कवि हैं, जबकि वस्तु स्थिति यह है कि छायावाद के प्रमुख कवि चार नहीं, पाँच हैं। ये पाँच कवि हैं– (1) निराला, (2) प्रसाद, (3) पन्त, (4) महादेवी वर्मा और (5) कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह। इन कवियों में आचार्य कुँवर साहब छायावाद के अन्यतम कवि हैं। वे सन् 1931 ई0 में निराला के सम्पर्क में आये थे। उनके सम्पर्क में आने के बाद कुँवर साहब छायावाद में पूरी तरह से दीक्षित हो चुके थे। आचार्य कुँवर साहब ने ग्यारह–बारह वर्ष की आयु से ही कविता करना प्रारम्भ किया था, परन्तु उनकी काव्य–चेतना का सम्यक विकास सन् 1931 ई0 में निराला के सम्पर्क में आने के बाद ही प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व कुँवर साहब छायावाद के प्रमुख कवियों– निराला, प्रसाद, पन्त तथा महादेवी वर्मा की छायावादी भाव–भूमि की काव्य–कृतियों– 'अनामिका' (1922), 'परिमल'(1929), 'झरना' द्वितीय संस्करण, (1927), 'पल्लव'(1928), 'नीहार' (1930), आदि का पारायण कर चुके थे। इस प्रकार कुँवर साहब ने छायावादी भाव–भूमि से परिचित तथा दीक्षित होने के बाद ही उसमें प्रवेश किया था। निराला कुँवर साहब के काव्य–गुरु थे। निराला के संसर्ग में आने के पश्चात कुँवर साहब के गीत तथा कविताएँ उनके साथ–साथ 'माधुरी' तथा 'सुधा' आदि पत्रिकाओं में छपने लगी थीं और जब छायावाद के चारों कवियों–निराला, प्रसाद, पन्त तथा महादेवी वर्मा ने क्रमशः छायावाद से नाता तोड़ लिया था तब भी अकेले कुँवर साहब छायावाद के उन्नायक कवि बने रहे। सबसे पहले पन्त ने, सन् 1932 ई0 में छायावाद के अन्त की घोषणा करते हुए अरविन्द के प्रभाव से प्रगतिवादी बन गये थे। इसके बाद प्रसाद ने 'कामायनी' जैसा महाकाव्य देकर सन् 1938 ई0 में ब्रह्मलीन हो गये थे। इसी वर्ष निराला ने छायावाद को उत्कर्ष तक पहुँचाते हुए, सन् 1938 ई0 में 'अनामिका' (1938) तथा 'तुलसीदास'(1938) जैसी काव्य–कृतियाँ देकर प्रगति–प्रयोग की ओर मुड़ गये थे। निराला के बाद महादेवी वर्मा ने अपनी 'दीपशिखा' (1942) देकर, काव्य साधना से सन्यास ले लिया था। परन्तु आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने 'मेघमाला' (1942) तथा 'शम्पा' (1943) नामक काव्य–कृतियाँ देकर छायावाद में अपने प्रवेश की सूचना दी थी और इसके बाद छायावाद को शताब्दी–व्यापी बनाने की साधना में लग गये थे। ध्यान देने की बात यह है कि 'मेघमाला' तथा 'शम्पा' में संकलित सभी गीत तथा कविताएँ सन् 1930 ई0 से सन् 1938 ई0 के मध्य रची गई थीं। इन सभी गीतों तथा कविताओं के

संकलन प्रकाशित किये जाने के पूर्व ये सभी गीत निराला के साथ 'माधुरी' तथा 'सुधा' नामक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे।

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह की ग्रन्थावली के प्रथम खण्ड द्वारा यह प्रमाणित किया जा चुका है कि वे मूलतः कवि हैं, साथ ही छायावाद के कवि हैं। उन्होंने अपनी काव्य–साधना से यह प्रमाणित किया है कि वे निराला के बाद ऐसे कवि हैं, जिनकी कविताओं में छायावाद की समस्त विशेषताएँ प्रचुर मात्रा में पायी जाती हैं। प्रसाद विकासात्मक काव्य–प्रतिभा के कवि हैं। वे ब्रजभाषा से प्रारम्भ कर खड़ी बोली में आते हैं। उनका प्रारंभिक काव्य शिथिल है। उनमें अनेक निर्बलताएँ हैं। छायावाद की उच्चतर भाव–भूमि तक आने में उन्हें लम्बा समय लगाना पड़ा था। सही अर्थों में वे 'आँसू' के द्वितीय संस्करण (1930) तथा 'लहर' (1933) के गीतों तथा कविताओं द्वारा ही छायावाद की प्रवृत्तियों के सफल कवि बन पाते हैं। यह बात अलग है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अपने प्रिय कवि प्रसाद की प्रारंभिक कविताओं में 'कामायनी' महाकाव्य की सम्भावनाएँ खोज लेते हैं। पन्त तो छायावाद के अल्प–जीवी कवि रहे। वे प्रकृति के चतुर चितेरे कवि हैं। उनकी भाषा में एक आकर्षण है। परन्तु वे छायावाद में केवल चार वर्ष रहते हैं और इसके बाद प्रगति–प्रयोग की ओर मुड़ जाते हैं। महादेवी वर्मा छायावाद की प्रमुख कवयित्री हैं, परन्तु उनकी अनुभूति का क्षेत्र सीमित है। वह रहस्यवाद की कवयित्री हैं। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। इन कवियों में कुँवर साहब का काव्य–व्यक्तित्व इसलिए विराट हो जाता है कि उन्होंने सन् 1930 से लेकर सन् 1997 तक छायावादी भावभूमि से एक क्षण के लिए भी विलग नहीं हुए। वे प्रेम और सौंदर्य तथा प्रकृति–चित्रण के साथ–साथ, देश–प्रेम एवं मानव–प्रेम के अन्यतम कवि के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित रहते हैं। उनके भावों, उनकी भाषा, उनके छंदों, उनकी शैली तथा उनके काव्य–रूपों पर निराला के काव्य व्यक्तित्व की अमिट छाप है। उन्होंने कभी भी निराला से प्रतिस्पर्धा नहीं की। परन्तु, उनकी काव्य–साधना में अनेक ऐसे पड़ाव आते हैं, जहाँ वे निराला से आगे निकलते हुए प्रतीत होते हैं।

निराला और कुँवर साहब को न्याय न मिलने का एक बड़ा कारण यह है कि हिन्दी–जगत में छायावाद के विकास–क्रम के इतिहास का अनुशीलन ही नहीं किया जा सका है।

छायावाद के इतिहास का तथ्यपरक विश्लेषण करने से पता चलता है कि छायावाद के नाम से प्रख्यात जिस काव्य–प्रवृत्ति का प्रवर्तन निराला ने अपनी कालजयी प्रथम कविता 'जुही की कली' से सन्–1916 ई0 में किया था, उस काव्य–प्रवृत्ति को शताब्दी–व्यापी–विस्तार छायावाद के महाकवि कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने अपनी दीर्घकालीन काव्य–साधना से किया था। परन्तु हिन्दी में इस बात का अध्ययन आज तक किसी भी समालोचक ने नहीं किया। इस बात की जानकारी के लिए छायावाद के विकास–क्रम का अनुशीलन आवश्यक है। छायावाद के विकास–क्रम के अनुशीलन के लिए छायावाद के विकास को चार चरणों में विभक्त कर देखा जाना आवश्यक है–

(1) प्रवर्तनकाल–सन् 1916 ई0 से सन् 1924 ई0 तक। कुल समय 08 वर्ष।

(2) प्रकर्षकाल– सन् 1924 ई0 से सन् 1932 ई0 तक। कुल समय 08 वर्ष।

(3) उत्कर्षकाल–सन् 1932 ई0 से सन् 1943 ई0 तक। कुल समय 11 वर्ष।

(4) उन्नयनकाल–सन् 1943 ई0 से सन् 1997 ई0 तक। कुल समय 54 वर्ष।

(1) प्रवर्तन काल–

कवि, कविताएँ और प्रकाशित काव्य–कृतियाँ–

पं0 सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(क) प्रकाशित कविताएँ–

'जूही की कली', 'तुम और मैं', 'अधिवास', 'प्रिया के प्रति', 'संध्या सुन्दरी', 'जागो फिर एक बार', 'बादल राग', 'महाराज शिव जी का पत्र', 'यमुना के प्रति', 'पंचवटी', 'आध्यात्मफल', 'धारा', 'जागरण', 'जलद के प्रति', 'भर देते हो', 'मौन', 'क्या दूँ', 'माया', 'स्मृति', 'जागृति में सुप्ति थी', 'बदला', 'तरंगों के प्रति', 'आदान–प्रदान', 'विधवा', 'दीन', 'भिक्षुक' आदि

(ख) काव्य–कृति –अनामिका–प्रथम संस्करण (1922)

(2) प्रकर्षकाल–

कवि तथा प्रकाशित काव्य–कृतियाँ –

(क) पं0 सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'– प्रकाशित काव्य–कृतियाँ–

'परिमल' (1929)

(ख) जयशंकर प्रसाद– प्रकाशित काव्य–कृतियाँ–

(i) झरना–द्वितीय संस्करण सन्1927 ई0

(ii) आँसू–प्रथम संस्करण सन् 1925 ई0

(ग) सुमित्रानन्दन पन्त– प्रकाशित काव्य–कृतियाँ–

(i) पल्लव–सन् 1928 ई0,

(ii) गुंजन सन् 1932 ई0

(घ) महादेवी वर्मा– प्रकाशित काव्य कृतियाँ–

(i) नीहार– सन् 1930 ई0

(ii) रश्मि–सन् 1932 ई0

(3) उत्कर्षकाल–

कवि, कविताएँ और प्रकाशित काव्य–कृतियाँ–

(क) पं0 सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'–

(i) गीतिका–सन् 1936 ई0

(ii) अनामिका–सन् 1938 ई0

(iii) तुलसीदास–सन् 1938 ई0

(ख) जयशंकर प्रसाद–

(i) आँसू–द्वितीय संस्करण सन् 1930 ई0

(ii) लहर सन् 1933 ई0

(iii) कामायनी सन् 1935 ई0

(ग) सुमित्रानन्दन पन्त–

कोई काव्य कृति नहीं।

(घ) महादेवी वर्मा–

(i) नीरजा सन् 1935 ई0,

(ii) सांध्यगीत सन् 1936 ई0,

(iii) यामा सन् 1940 ई0

(अ) दीप शिखा सन् 1942 ई0

(ङ.) आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह–

(i) मेघमाला सन् 1942 ई0

(ii) शम्पा सन् 1943 ई0

(4) उन्नयनकाल–

कवि, कविताएँ और प्रकाशित काव्य–कृतियाँ–

(क) आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

काव्यकृतियाँ– (1) बा और बापू (2) प्रतिपदा (3) अपराजिता
(4) विजया (खण्डकाव्य) (5) ऋतम्भरा
(6) वृंदावन (7) शम्बूक (खण्डकाव्य)
(8) जीवन–आसपास (9) घनमाला।
महाकाव्य (1) रामदूत (2) संकटमोचन (3) ऋषभदेव।

छायावाद के विकास के उपर्युक्त चार चरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, छायावाद के उत्कर्षकाल से लेकर उसके उन्नयन काल के अन्तिम वर्ष यानी 1997 तक, निरन्तर काव्य–साहित्य– साधना में लीन रहे थे। उनकी काव्य–साहित्य–साधना की निरन्तरता से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि कुँवर साहब हिन्दी–कविता के विभिन्न आन्दोलनों के युग में भी छायावादी भाव–भूमि से एक क्षण के लिए भी विलग नहीं हुए थे। यदि हम छायावादी कविता की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करते हैं तो उनकी कविता में छायावाद की समस्त विशेषताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। पाठकों की जानकारी के लिए छायावादी कवियों की काव्य–प्रवृत्तियों की एक तुलनात्मक तालिका देकर कुँवर साहब की काव्य–कृतियों का संक्षिप्त विवेचन देना यहाँ अनिवार्य प्रतीत होता है। कारण यह है कि उनकी काव्य–कृतियों का संक्षिप्त विवेचन उनकी काव्य–साहित्य–साधना की निरन्तरता को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है।

छायावादी कविता के प्रमुख पाँचों कवियों– (1) निराला, (2) प्रसाद, (3) पन्त, (4) महादेवी वर्मा, तथा (5) आचार्य कुँवरचन्द्रप्रकाश सिंह, की काव्य–प्रवृत्तियों की तुलनात्मक तालिका इस प्रकार है–

छायावाद की प्रमुख काव्य–प्रवृत्तियाँ और छायावादी कवि

क्रम सं0	कवि / विशेषताएँ	निराला	प्रसाद	पन्त	महादेवी वर्मा	कुँवर जी
1.	आत्माभिव्यंजकता	"	"	"	"	"
2.	विशयि प्रधानता	"	"	"	"	"
3.	मूल्यकेन्द्रियता	"	"	"	"	"
4.	वैयक्तिकता	"	"	"	"	"
5.	नारी चेतना	"	"	"	"	"
6.	प्रकृति चित्रण	"	"	"	"	"
7.	प्रेमानुभूति	"	"	"	"	"
8.	सौंदर्य–बोध	"	"	"	"	"
9.	सांस्कृतिकता	"	"	X	"	"
10	राष्ट्रीयता	"	"	X	"	"
11	आध्यात्मिकता	"	"	"	"	"
12	दार्शनिकता	"	"	"	"	"
13	अलौकिकता	"	"	X	"	"
14	लोकोन्मुखता	"	x	X	x	"
15.	रहस्यवाद	"	"	"	"	x
16.	ऐतिहासिकता	"	"	X	x	"
17.	मानवतावाद	"	x	X	x	"
18	भक्तिभावना	"	x	X	x	"
19	विश्व–बोध	"	"	"	"	"
20.	राष्ट्रजागरण	"	"	X	"	"
21	कल्पना भीलता	"	"	"	"	"
22.	अप्रस्तुत विधान	"	"	"	"	"
23.	लाक्षणिकता	"	"	"	"	"
24.	उक्ति वैचित्र्य	"	"	"	"	"
25.	वेदना की विवृत्ति	"	"	X	"	"
26.	उपचार वक्रता	"	"	"	"	"
27.	खड़ी बोली का परिमार्जन	"	"	"	"	"
28.	छन्द की नूतनता	"	"	"	"	"
29.	मुक्त छन्द	"	"	X	x	"
30.	नूतन काव्य रूप	"	"	"	"	"
31.	विद्रोह की भावना	"	x	X	x	"
	कुल विशेषताएँ	31	26	20	25	30

छायावाद के विकास—क्रम के इतिहास तथा छायावाद की काव्य—प्रवृत्तियों के विस्तृत तथा वैज्ञानिक अनुशीलन के बाद हम इस निष्कर्श पर पहुँचते हैं कि यद्यपि छायावाद के पाँचों कवियों— (1) निराला, (2) प्रसाद, (3) पन्त, (4) महादेवी वर्मा तथा (5) महाकवि कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने हिन्दी कविता को समृद्धिशाली बनाने की साधना की है, तथापि छायावाद को विश्वजयी बनाने में निराला तथा कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का योगदान सर्वोपरि है। कारण यह है कि छायावाद की जितनी प्रवृत्तियाँ निर्धारित की गई हैं उनमें सम्पूर्ण काव्य—प्रवृत्तियाँ निराला के काव्य में पायी जाती हैं। कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का स्थान दूसरा है। परन्तु अगर दीर्घकालीन काव्य—साहित्य—साधना की कसौटी पर छायावाद के पाँचों कवियों का मूल्यांकन किया जाता है, तो आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह इन पाँचों कवियों से श्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए हम कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के काव्य—विकास के तीन चरण निर्धारित कर सकते हैं—

(1) प्रथम चरण—विद्यार्थी जीवनकाल— सन् 1930 ई0 से लेकर सन् 1943 ई0 तक। इस युग की काव्य—कृतियाँ हैं— (1) मेघमाला (1942) तथा शम्पा (1943)

(2) दूसरा चरण—सेवाकाल— सन् 1943 ई0 से लेकर सन् 1974 ई0 तक। इस युग की काव्य—कृतियाँ हैं— (1) बा और बापू (1956) (2) प्रतिपदा (1960), (3) अपराजिता् (1969), तथा (4) विजया (1969)

(3) तीसरा चरण— सेवानिवृत्तिकाल— सन् 1974 ई0 से सन् 1997 ई0 तक। इस युग की काव्य—कृतियाँ हैं— (1) ऋतम्भरा (1978), (2) जीवन आस—पास (1996), तथा (3) वृन्दावन (1996)। इसके अतिरिक्त उनके तीनों महाकाव्य — (1) रामदूत, (2) संकटमोचन तथा (3) ऋषभदेव इसी काल में प्रकाशित हुए थे।

इन प्रकाशित काव्य—कृतियों के अतिरिक्त कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के सैकड़ों गीत तथा कविताएँ उनके जीवनकाल में अप्रकाशित रह गये थे। इन अप्रकाशित गीतों तथा कविताओं के प्रकाशन के प्रयास चल रहे हैं। जो गीत या कविताएँ अकाल कालकवलित हो चुकी हैं, उनके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है, उनकी जितनी काव्य—कृतियाँ तथा महाकाव्य प्रकाशित हैं वे सभी इस बात के प्रमाण हैं कि वे छायावाद के उन्नायक कवि हैं।

कुँवर साहब की काव्य–साधना की ग्रंथावली के तृतीय खण्ड में जो काव्य–कृतियाँ संकलित की गयी हैं, उनका संक्षिप्त परिचय पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

'ऋतम्भरा' कुँवर साहब की सातवीं काव्य–कृति है। इस काव्य–कृति का प्रकाशन सन् 1978 ई0 में हुआ था। इसमें कुल 91 गीत संकलित हैं। हमें जहाँ तक स्मरण है, 'ऋतम्भरा' के प्रकाशक महोदय 'ऋतम्भरा' के प्रकाशन के लिए 108 गीत ले गये थे, परन्तु 17 गीतों का क्या हुआ? कह सकना कठिन है। इस संग्रह के गीतों का भाव–वैविध्य विशेष रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। इन गीतों में प्रेम और सौंदर्य, प्रकृति–प्रेम से लेकर प्रयाण–गीतों का अपना आकर्षण है। 'ऋतम्भरा' के प्रकाशन वर्ष से यह नहीं समझना चाहिए कि इन गीतों की रचना सेवा–निवृत्ति के बाद हुई है। इस कृति के अनेक गीत छायावाद के उत्कर्ष काल में रचे गये थे। इस संकलन के अधिकांश गीत 'मेघमाला' (1942) आदि कविता–संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। इसलिए इस संकलन में छायावादी भाव–भूमि का सौंदर्य समाहित है। 'ऋतम्भरा' का प्रकाशन यद्यपि सन् 1978 ई0 में हुआ था, तथापि इसके सभी गीत छायावादी भाव–भूमि के ही हैं।

इन गीतों में प्रगति–प्रयोग, नई कविता, नवगीत तथा समकालीन कविता का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है। यह सभी जानते हैं कि कुँवर साहब कवि होने के साथ–साथ एक अध्यापक तथा समालोचक भी हैं। अध्यापक होने के कारण वे प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता तथा समकालीन कविता के कवियों की कविताएँ पढ़ते और पढ़ाते रहे थे। इन विविध आन्दोलनों की कविता पढ़ाते हुए भी उनकी काव्य–साधना पर इस आन्दोलन जीवी कविता का कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। वे छायावाद के कवि थे, आजीवन बने रहे। 'ऋतम्भरा' के गीतों में छायावाद की विषयगत तथा शैलीगत सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसके गीतों को युग–बोध के साथ–साथ, 'गीतिका', 'लहर', महादेवी वर्मा के गीतों तथा 'मेघमाला' के गीतों के साथ देखना चाहिए। इस प्रकरण में हमारा ध्यान सबसे पहले 'ऋतम्भरा' की 'सरस्वती' वंदना की ओर जाता है। कवि की यह प्रवृत्ति रही है कि उसने अपने सभी काव्य–कृतियों के प्रारम्भ में 'सरस्वती' वन्दना का विधान किया है। कवि प्रायः प्रत्येक काव्य–कृति की वंदना को अपनी

काव्य–कृति की मूल चेतना से जोड़ता चलता है। इसलिए उनमें भिन्नता पायी जाती है, परन्तु 'ऋतम्भरा' की 'सरस्वती' वंदना वही है, जो 'मेघमाला' की है। इसका सीधा अर्थ है कि 'मेघमाला' तथा 'ऋतम्भरा' की भाव–भूमि में कोई अन्तर नहीं है। कहने का आशय यह है कि 'मेघमाला' के समान ही, 'ऋतम्भरा' में भी छायावादी भाव–भूमि के सर्वाधिक गीतों का संकलन है।

कुँवर साहब छायावाद के प्रति समर्पित कवि हैं। वे नूतनता के आग्रही रहे हैं, परन्तु उनका यह आग्रह प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, नयी कविता, नवगीत, समकालीन कविता की आन्दोलन–जीवी नूतनता का नहीं है। वे निराला के नवगति, नव लय, ताल, छंद नव के आग्रही थे। छायावादी कविता को शताब्दी व्यापी बनाने की साधना में लीन कुँवर साहब ने नूतनता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को दोहराते हुए लिखा था –

उठा लो नई तूलिका आज आओ,
नई भित्ति पर चित्र नूतन बनाओ।
नये कण्ठ से फिर नये गान गाओ,
नई ज्योति बन लोचनों में समाओ।
जगाओ नई चेतना श्रांत मन में,
उषा बन हँसो फिर निराशा–गगन में।
तुम्हारी किरण से तरुण–कंज फूलें,
नये अलि, नये कलि–कुसुम चूम भूलें।
नए भाव की ले सुरभि नव समीरण,
बहे, हो प्रणय–बीचिमय विश्व–जीवन।
नई काकली बन खिलो कुंजवन में,
नई दामिनी–सी जगो रूप –घन में।
बसो विधु–विमल सिंधु की कल्पना में,
बरसती रहो रस धरा निर्धना में।
नये नूपुरों में नये स्वर सजाओ,
चरण प्रति चरण छंद नूतन जमाओ।

'जीवन आस–पास', 'ऋतम्भरा' के बाद सन् 1996 ई0 में प्रकाशित आठवाँ कविता–संग्रह प्रकाश में आया था। इस कविता संग्रह में समय–समय पर रची गयीं कुल 43 कविताएँ संकलित की गयी हैं। इस संकलन की अधिकांश कविताएँ लोकोन्मुखी यथार्थवादी हैं। इन कविताओं की भाषा–शैली, छन्द, अलंकार तथा वस्तु में विविधता पायी जाती है। इस संकलन की 'अपनी बात' को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। कारण यह है कि कवि ने अपने युग के कवियों से भिन्न अपनी काव्य–चेतना पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि– ''मैंने अपने जीवन यात्रा के पिछले कुछ वर्षों में जो प्रत्यक्ष देखा, सुना और अनुभव किया, उसकी राग–विरागमयी अभिव्यक्ति 'जीवन आस–पास' में संकलित मेरी कविताओं में हुई है। छायावाद और प्रगतिवाद के काव्य में दीनों, दलितों बुभुक्षितों अपहृतसर्वस्वों के प्रति करुणा और संवेदना का जो अकृत्रिम प्राणयोग मिलता है, वह आगे चलकर धीरे–धीरे क्षीण होता चला गया, आज तो वह लुप्तप्राय है। आज की हिन्दी कविता आन्दोलन–जीवी बन गयी है। अकविता, छंद मुक्ति, रूपवैचिष्य–विधान, विदेशी–शिल्प आयातन, आदि आन्दोलनों और फैशनों में उलझकर कविता अपनी परम्परा से विच्युत हो गयी है। आस–पास के जीवन से उसका सरोकार कम और अपने अन्तर्मन से अधिक है।''

इस कविता संग्रह की कविताओं में यथार्थ जीवन की अनुभूतियों को वाणी दी गयी है। मानव जीवन से कटकर अपनी मानसिक कल्पनाओं को वाणी देना कविता की निर्लज्जता है। जो कविताएँ जीवन और जगत की अनुभूतियों और संवेदनाओं को वाणी देती हैं, उन कविताओं में अनुभूतियों और आध्यात्मिक जीवन की गहराई के साथ–साथ एकात्मकता के अन्तर–दर्शन का प्रकाशन पाया जाता है। इन कविताओं में निहित जीवन की आध्यात्मिकता तथा एकात्मक दर्शन के कारण इस संग्रह की सभी कविताएँ राष्ट्रीय–चेतना के साथ उसे मानव–प्रेम (मानवतावाद) से जोड़ती हैं। इसीलिए इस संग्रह की सभी कविताएँ छायावादी कविताएँ मानी जायेंगी। इस कविता–संग्रह की मूल चेतना की पहचान के लिए 'सरस्वती वंदना', 'गायत्री', 'वाग्देवी की वंदना', 'हे कवि' आदि को प्राथमिकता के आधार पर पढ़ना चाहिए। पहली कविता 'सरस्वती वन्दना' इस कृति की मूल–चेतना को उद्घाटित करती है। इसकी अन्तिम छः पक्तियाँ विशेष रूप से पठनीय हैं–

भारती शुभ्र करती है अरुण ज्योति प्रसारित,
हो रही भूमियाँ परम सत्य की उद्‌भाषित।
अति दूर हो गया निकट हुआ सीमित असीम,
अति अल्प मध्य जाग्रत है भूमा अपरिसीम,।
दारिद्र्य दुःख अन्याय अनल शोषण के प्रति,
करती विद्रोह हेतु प्रेरित वे कवि की मति।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि दरिद्रता दुःख, अन्याय, अनृत, शोषण के विद्रोह करने की प्रेरणा माँ सरस्वती से ही मिलती है। कवि लिखता है–

प्रेरणा दो, उठें और जागें हम।
ज्ञानलोक प्राप्त करें।
बन जायें एक मन, एक प्राण, एक हृदय।
मानव समाज सब,
खुल जायें गाँठें सब।
तम को प्रज्ञान दो
अये वेदजननी।
मानस चैतन्य का करो उच्चतम विकास।
पहुँचें हम वहाँ, जहाँ–
विश्वभवत्येक नीम
जहाँ विश्व बन जाय
मानवता नीड़ एक
परम विश्राम धाम
मातः शत–शत प्रणाम।

आज के कवि अपनी मानसिक विकृति के कारण भारतीय काव्य परम्परा से विमुख हो चुके हैं। हमारी वाग्देवी इससे दुखी हैं और अपनी वेदना व्यक्त करती हुई कहती हैं–

लय, ताल, छंद–ज्ञान भूल जाओ
रमो काम–कदर्भ में,
भड़काओ वर्ग–युद्ध विद्वैष, घृणा,
कविता के नाम पर सूक्ति लिखो,
अथवा निकृष्ट चित्र काव्य रचो,
बिना साधना के
कवि कीर्ति मिल जायेगी।

हिन्दी की आन्दोलन–जीवी–कविता की साधना विहीन कविता पर इससे करारा प्रहार और नहीं हो सकता है। आज का कवि किस तरह लोक–प्रियता अर्जित करता है, इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए कवि 'हे कवि' कविता में लिखता है कि–

सस्ती लोकप्रियता अर्जन का साधन
है तुम्हारा यथार्थ?
क्या सत्य शिव और सुन्दर का
हनन करने वाला ही है तुम्हारा यथार्थ?
स्पष्ट कहो,
इष्ट क्या है तुम्हें,
कवि।
बाल्मीकि और तुलसी का
इष्टत्व
अथवा मार्क्स और ऐंजिल्स
का उच्छिष्ट?

'जीवन आस–पास' की समस्त कविताओं में कवि का मानवतावादी, सांस्कृतिक तथा पंथनिरपेक्ष राष्ट्रवाद मुखरित हुआ है। ये कविताएँ भारत की लोकतांत्रिक सरकारों की शासन–व्यवस्था के मुँह पर करारा तमाचा हैं। इस संग्रह की मूल चेतना को समझने के लिए सन् 1947 ई0 की अगस्त चौदह

तथा पन्द्रह की अर्धरात्रि को भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 जवाहरलाल नेहरू के उस संकल्प—वक्तव्य को पढ़ना चाहिए, जिसके द्वारा देश की गरीबी, अशिक्षा आदि का उल्लेख करते हुए, इन्हें मिटाने का संकल्प लिया गया है। परन्तु देश में सरकारें आती रहीं, जाती रहीं और गरीब गरीब होता गया, अशिक्षित समाज शिक्षा से दूर होता गया, स्वास्थ्य—सेवाएँ जन साधारण के लिए दुर्लभ होती गयीं। हमारा ग्रामीण समाज दीन—हीन अवस्था में कराहता रहा। 'जीवन आस—पास' में इसी कराह की यथार्थ अभिव्यक्ति है। देश की दीन—हीन स्थिति का जीता— जागता चित्र 'आगि बड़वाग्नि ते बड़ी आगि पेट की', 'मलजीवी', 'लावारिश लाश', 'कूड़ाजीवी' में आँका गया है। ये कविताएँ पठनीय तो हैं ही, इनका मनन करना और कराना साहित्यकार का धर्म होना चाहिए और उनका संदेश देश के भ्रष्टाचारी राजनेताओं तक पहुँचाना चाहिए। 'आगि बड़वाग्नि ते बड़ी आगि पेट की' का हृदय बिदारक बिम्ब देखिए —

किसी यात्री का मल पड़ा है।
बालक सेब उठा लेता है,
अपने मलिन जाँघिये में उसे पोंछता है।
और खाने लगता है—
नहीं, नहीं, खाता नहीं है।
शायद पेट की आग से मजबूर—
दाँतों से जल्दी—जल्दी काट—काट कर—उसे निगल रहा है।

यह कविता भारत के विकास, और उसकी प्रगति का तथा 'गरीबी हटाओ' के नारों के यथार्थ की सच्चाई है। 'मलजीवी' कविता भारत जैसे मानवतावादी देश का कच्चा चिट्ठा खोलने वाली कविता है। सिर पर 'मैला' ढोने की प्रथा हमारे समाज की वास्तविकता है। प्रातः काल अपने हाथों में लम्बे—लम्बे झाड़ू लेकर चलने वाली हजारों नारियों को सभी देखते आ रहे हैं। कवि इसे धनिकों का 'षड़यन्त्र' मानता है। वह कहता है— प्रतिजन अपना मल कमाएँ इसमें क्या हर्ज है? जो ऐसा नहीं करते, उसे वे, 'मानवता' का कलंक मानते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी स्वयं अपना 'मल कमाते' थे, फिर सारा राष्ट्र क्यों नहीं करता। भारतीय समाज पर कवि प्रहार करता हुआ लिखता है कि—

पर वे मलजीवी हैं –

दूसरों का मल कमाकर

अपना, अपने बच्चों का

पालती हैं पेट !

यही उनकी रोजी रोटी का

साधन है !

समाज दृष्टिहीन है,

राजनीति हृदयहीन है

कुलिश कठोर ?

लोकतंत्र घिनौना छल है –

हमारा राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर है, परन्तु साम्प्रदायिकता राष्ट्र की प्रगति में बाधक है। इसका मूल कारण हमारी राजनीति का साम्प्रदायिकता से प्रेरित होना है। ये पंक्तियाँ गूँजती रहती हैं–''मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना'' फिर भी हमारे भीतर बैर–भावना राक्षस की तरह हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाती हैं। साम्प्रदायिकता हमारी संकुचित मनोवृत्तिः है। यदि हम एक क्षण के लिए विचार करते हैं, तो हमें मानव–मानव में भेद नहीं दृष्टिगत होता है। कारण यह है कि परमात्मा एक है। वही सभी में समान रूप से समाया हुआ है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों तथा गिरजाघरों में सर्वधर्म समभाव की शिक्षा दी जाती है। कवि लिखता है–

संकुचित निज दृष्टि से जिनको

मानते हो बन्धु मन्दिर मात्र।

साम्प्रदायिकता यहाँ नित्य होती ध्वस्त,

और शिक्षा प्राप्त होती है

सभी धर्मों के सहज समभाव की

सीखते हैं यहाँ आकर लोग

मूल्य जीवन के

महत आदर्श श्री हनुमान के।

'जीवन आस–पास' वर्तमान भारत का सच्चा यथार्थवादी चित्र है। यदि कोई नागरिक भारत की सच्ची झाँकी देखना चाहता है तो उसे 'जीवन आस–पास' की समस्त कविताएँ पढ़नी चाहिए। इन कविताओं में देश के नव–निर्माण का सन्देश छिपा है। हमारा देश आज भी प्राकृतिक सम्पदाओं का अक्षय स्रोत है। कवि को आश्चर्य होता है कि जो देश धन–धाम से परिपूर्ण है, जहाँ किसान सम्पूर्ण विश्व का अन्नदाता बन सकता है, उस देश का नागरिक भूखा कैसे सो सकता है। उसका अपना निजी अनुभव है कि हमारे देश में दरिद्रता का कारण भ्रष्टाचार है। धन–लोलुपता है। लूट–पाट है। धनवान बनने की बलवती लालसा है। कवि कहता है हम यदि देश का नवनिर्माण चाहते हैं, तो हमें अपने प्रलोभन त्यागने होंगे और अपरिग्रह की भावना से प्रेरित होकर समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए आगे आना होगा–

हृदय–हृदय के सिंहासन पर इसे प्रतिष्ठित करो
राष्ट्र जीवन में इसका अभिषेक करो
बन जाओ जनता के अभावग्रस्त
जीवन से एकरूप
अव्याहत त्याग की
और अपरिग्रह की भूमि पर
देश और समाज का नवनिर्माण
अभीष्ट है, यदि।

'जीवन आस–पास' का कवि अपनी यथार्थवादी कविताओं द्वारा मानव–प्रेम के साथ–साथ देश–प्रेम की आदर्श भावना मुखरित करता हुआ प्रतीत होता है। इन कविताओं में जहाँ एक ओर कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण उद्‌घाटित होता है तो वहीं दूसरी ओर, कवि की राष्ट्रीय भावना भी उद्‌घाटित होती है। सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का गायक कवि जब 'राम और ऐतिहासिक शोध', 'रमजान', 'ईद का चाँद', 'तेरा धर्म एक ही है', 'अहिंसा', 'साम्प्रदायिकता ढहाओ', 'नौ अगस्त', 'लोकतंत्र का महापर्व' जैसी कविताएँ रचता है, तब उसकी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता प्रकट होती है, जो हिन्दुओं और मुसलमानों को एक सूत्र में बाँधती हुई प्रतीत होती है। कवि की यही राष्ट्रीयता भारत के संविधान का अभीष्ट है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'जीवन आस–पास' हिन्दी की यथार्थवादी कविता की वास्तविक चेतना को उद्‌घाटित करने में पूर्णरूपेण सफल हुआ है।

'वृन्दावन', 'जीवन आस–पास' के बाद, सन् 1996 ई0 में प्रकाशित कुँवर साहब का नवम् कविता–संग्रह है। इसे मैं कविता–संग्रह इसलिए कहता हूँ, क्योंकि 'वृंदावन' के छंद समय–समय पर रचे गये थे। इसका सातवाँ गीत 'बैसवारा' डिग्री कालेज, लालगंज, रायबरेली के प्रांगण में एक समारोह के दौरान रचा गया था। कुँवर साहब ने यह गीत या पद उसी समारोह में गाकर सुनाया था। इस गीत की सुर–लहरी के साथ सभागार में उपस्थित सभी श्रोता झूम उठे थे। मुझे उसी अवसर पर अनुभव हुआ था, कि हिन्दी कविता में कृष्ण–काव्य की माधुरी आज भी सर्वोत्तम माधुरी हैं। यहाँ अन्तर केवल इतना है कि 'वृन्दावन' के सभी छंद खड़ी बोली में रचे गये हैं। कुँवर साहब ने अपनी इस काव्य–कृति से यह प्रमाणित किया है कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा का माधुर्य विद्यमान है।

यह सर्वविदित है कि कुँवर साहब परम वैष्णव भक्त हैं। वैष्णव भक्ति उन्हें अपने परिवार तथा माता से मिली थी। इस भक्ति में इतनी गहराई है कि यह उनके परिवार का संस्कार ही नहीं, उनके रक्त का अनिवार्य गुण बन गया है। मेरी जानकारी में पढ़े–लिखे समाज में केवल कुँवर साहब का ही एक ऐसा परिवार है, जहाँ वैष्णव भक्ति पूरे परिवार में समाई हुई है। कुँवर साहब के ज्येष्ठ पुत्र डॉ0 रविप्रकाश सिंह अमेरिका में मनोचिकित्सक हैं, परन्तु डाक्टर होते हुए भी वे चौबीस घण्टे अपनी सुमिरिनी पर जाप करते रहते हैं।

कुँवर साहब की वैष्णव भक्ति अतिशय व्यापक और उदार है। वे मूलतः राम के भक्त हैं, परन्तु सभी देवी–देवताओं के प्रति वे समर्पणशील हैं। राम के परम भक्त, शक्ति के परम विग्रह हनुमान उनके महाकाव्यों के चरित नायक हैं। दुर्गा माँ भी शक्तिस्वरूपा हैं वे महिशासुर मर्दिनी हैं। वे इनके खण्डकाव्य 'विजया' की आलम्बन हैं। 'विजया' शक्ति का प्रतिमान काव्य है। कुँवर साहब ने कभी यह नहीं कहा कि 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष–बाण लो हाथ।' इसलिए वे पूरी भाव–तल्लीनता से 'वृंदावन' का सृजन कर सके।

'वृंदावन' साधारण कोटि का काव्य नहीं है। इसमें चिन्मयरस की अवतारणा हुई है। इस काव्य–कृति की भाव–भूमि को आत्मसात करने के

लिए इसमें दी गयी कुँवर साहब के आत्म निवेदन को ज्यों का त्यों उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ–

''श्री वृंदावन चिन्तामणि भूमि है। यह भगवान् की प्रियतम लीलाभूमि है। नाम, रूप, लीला धर्म में कोई भेद नहीं होता। ब्रज और वृंदावन की महिमा का ज्ञान सर्व समाराध्य महामुनि शुकदेव जी ने गोपियों द्वारा इस प्रकार किया है–

ज्योति तेऽधिकं जन्मना ब्रज :

श्रयत इन्दिरा शाश्वतदत्र हि

दयति दृश्यता दिक्षु तानका–

स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।।

प्रियतम प्रभु श्यामसुन्दर! तुम्हारे जन्म के कारण ब्रज और वृन्दावन की महिमा बैकुण्ठ आदि लोकों से भी बहुत अधिक हो गयी है। तभी तो सौंदर्य, मृदुलता और सौभाग्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी अपना अधिवास बैकुण्ठ छोड़कर यहाँ नित्य निरन्तर प्रवास कर रही हैं। देवों और गोपियों के लिए भी अगम्य ऋषि– मुनियों के लिए प्राप्तव्य वृंदावन की महिमा का यत्किंचित गान मैं अकिंचन कर पाया, यह वृंदावनेश्वरी का परम अनुग्रह है।

वृंदावन वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित चिन्मय रस की उद्गम स्थली है, उसका परम अधिष्ठान है। चिन्मय–रस का शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रूप में पंचमुखी परिपाक और प्रकाशन होता है। मेरे इस लघु काव्य 'वृंदावन' में उसी की कुछ झलकियाँ प्रस्तुत कर पाना मेरा अभीष्ट रहा है। मेरे प्रयास है कि अर्हता के निर्णायक सुधी सहृदय भगवान के भक्त भाजन हैं। उनको कुछ परितोष हो सका, तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूँगा।''

कृष्ण–काव्य में वृन्दावन अनन्त वृंदाधाम है। यहाँ राधा–कृष्ण की रास लीलाएँ नित्य हैं। कृष्ण भारतीय भक्तों के वह आलम्बन हैं, जो अपनी राधा के साथ विश्व को चकित कर दिया है। राधा–कृष्ण तथा गोपियों की लीलाओं में जिस श्रृंगार रस का परिपाक हुआ है, वह अलौकिक है, उसे ही चिन्मय–रस की संज्ञा दी गयी है। कुँवर साहब का लघु काव्य 'वृंदावन' कृष्ण–काव्य का सर्वोत्तम काव्य है। कुँवर साहब ने इस काव्य में जिस उच्चतर भाव–भूमि पर इस काव्य का सृजन किया है, वह अतुलनीय है। इस प्रकरण में 'वृंदावन' का यह पद अवलोकनीय तथा गेय है–

राधे! राधे! राधे

राधे! राधे! राधे!

मोहन ने मुरली में ये स्वर साधे फिर–फिर साधे।
नभ ने विगलित फिर–फिर गाया–राधे, राधे, राधे।
तृण–तृण, कण–कण, अणु–अणु बोले–राधे, राधे, राधे,
बहे पसीज धराधर, सरि, वन कहते राधे, राधे,राधे।
अष्मीभूत जलधि रटता था राधे, राधे, राधे।
मग्न पेम यमुना आवर्तों में रह–रह अकुलाईं,
विथकित चकित पवन ने श्वासों में स्थिति पायी।?
चिति के शत–शत घन अंबर में गरज–गरज घिर आये,
अमृतस्रावी आतपत्र से छाये दिशि–दिशि छाये।
द्रवित स्रवित मरुओं के उर की टूटी दुर्गम कारा,
जड़ता के शत अतल फोड़कर बही रसामृत धारा।
दग्ध, स्तब्ध उच्छिन्न महीरुह मुकुलित हो मुस्काये,
शूल वन गये फूल, फूल बन वर्ण–गंध सरसाये।
मौन हुए कोकिल कल स्वर सुन, केकी नर्तन भूले,
ऋतुक्रम तज निःशेष लता द्रुम सुमन सुफल भर झूले।
शशि–कर–निकर स्वरों के शत–शत इन्द्रधनुष बन छाये,
परानंद के कोटि–कोटि ऋतुपति धरती पर धाये।

यह पद कवि की राधाकृष्ण के प्रेम के वशीभूत मुखी–ध्वनि के प्रभाव और उस स्वर की व्याप्ति की चरम अभिव्यक्ति है। कृष्ण की मुरली की व्याप्ति और अनुगूँज का ऐसा विराट बिम्ब आज तक किसी कवि द्वारा आँका नहीं जा सका। मैं यहाँ 'वृंदावन' की समीक्षा करने नहीं बैठा हूँ, फिर भी कुँवर साहब द्वारा रचा गया एक छंद मैं पाठकों के लिए उद्‌धृत कर रहा हूँ –

मोहन की मुरली के सजे स्वर,
विश्व विमोहन राधिके–राधिके।
अम्बर ने, अवनी ने, अरण्य ने,

अम्बुधि ने कहा राधिके—राधिके।

भग्न—प्रवाह हुई यमुना,

लहरों में समा गया राधिके—राधिके।

सिद्ध —समाधि हुए ऋषि—वृंद,

जगा अजपा जप राधिके—राधिके।

यद्यपि 'वृंदावन' एक लघु कृष्ण काव्य है, तथापि इस काव्य की भावना की व्याप्ति के कारण यह कुँवर साहब को कृष्ण काव्य के बड़े—बड़े कवियों की पंक्ति में प्रतिष्ठित करती है।

'वृंदावन' खण्ड—काव्य इस बात का प्रमाण है कि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह को एक अत्यन्त संवेदनशील, भाव—प्रवण और सच्चा भक्त हृदय मिला था। इसीलिए जब बीसवीं शती के अन्तिम वर्षों में, हमारा नाता भावना से टूट चुका था, तब वे राधा—कृष्ण की प्रेमानुभूति की संवेदनशील दिव्य झाकियाँ अपनी पारदर्शी टकशाली भाषा में सहज रूप से प्रस्तुत कर सके। हिन्दी की विकृत मानसिकता से ग्रस्त कवियों द्वारा ऐसा सृजन नहीं हो सकता था। निर्मल काव्य के लिए भावना—सम्पन्न निर्मल हृदय चाहिए। कुँवर साहब के इसी निर्मल हृदय के कारण 'वृंदावन' काव्य हमें अनिर्वचनीय निर्मल आनन्द प्रदान करने में सफल हो सका है। 'रत्नाकर' के बाद कुँवर साहब ने ही राधा—कृष्ण के प्रेम के उस भाव—लोक तक पहुँचाया है, जिसे हम अनन्त 'वृंदावन' के नाम से जानते हैं। इसी लोक में पहुँच कर हमें 'सायुज्य मुक्ति' की अनुभूति होती है। यही वह आनन्द—भूमि है जिसकी सीमा नहीं है। 'वृंदावन' कवि की भक्ति भावना का प्रतिमान काव्य है।

'घनमाला' कुँवर साहब के उन गीतों का एक ऐसा गीत—संग्रह है, जिसका प्रकाशन स्वतंत्रता के अमृत महोत्सव वर्ष 2022 ई0 में हुआ है। इसके पूर्व कुँवर साहब के गीतों का अन्तिम गीत—संग्रह सन् 1978 ई0 में 'ऋतम्भरा' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसमें कुल 92 गीत संकलित हैं। सन् 1978 ई0 के बाद कुँवर साहब ने सैकड़ों गीत रचे थे, जो प्रकाशन की बाट जोह रहे थे, परन्तु किन्हीं कारणों से इन गीतों का प्रकाशन नहीं हो सका था। यह नहीं है कि इन गीतों के प्रकाशन के प्रयत्न नहीं हुए। प्रयत्न तो हुए पर कोई गीत—संग्रह प्रकाश में नहीं आ सका। इस दिशा में पहला प्रयास डॉ0 चन्द्रिका

प्रकाश शर्मा भारत के प्रधान पूर्व मंत्री स्व0 श्री अटलबिहारी वाजपेई की 51 कविताओं का एक कविता–संग्रह निकाल चुके थे, वे उसी तर्ज पर कुँवर साहब के गीतों का एक गीत–संग्रह निकालने के उद्देश्य से कुँवर साहब के 51 गीत तथा कविताएं ले गये थे, परन्तु उनका यह संग्रह प्रकाश में नहीं आ सका। दूसरा प्रयास कुँवर जी के परम सहयोगी तथा परम शिष्य डॉ0 सूर्यप्रसाद दीक्षित द्वारा किया गया था। वे भी निराला की 'कविश्री' के तर्ज पर कुँवर जी के गीतों तथा कविताओं का एक कविता–संग्रह प्रकाशित करना चाहते थे। इस कविता–संग्रह के प्रकाशन के लिए झाँसी के एक प्रकाशन से अनुबंध भी हो चुका था, परन्तु कुँवर जी की 'कविश्री' प्रकाश में नहीं आ सकी।

मैं पहली बार सन् 1974 ई0 में कुँवर साहब के सम्पर्क में आया था, परन्तु धीरे–धीरे हमारा परिवार कुँवर साहब के परिवार का अंग बन गया था। उन दिनों मेरी पत्नी डॉ0 विमला सिंह अवकाश पर थीं। वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली की फैकैल्टी इंप्रूवमेण्ट प्रोग्रैम के अन्तर्गत शोध–वृत्ति पर 'प्रसाद का लालित्य–विधान' विषय पर शोध कार्य कर रही थीं। कुँवर साहब की आत्मीयता मेरी पत्नी के लिए वरदान सिद्ध हुई थी। कुँवर साहब का शोध–निर्देशन उन्हें स्वतः मिल गया था। परिणाम स्वरूप मेरी पत्नी का शोध प्रबंध सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा का श्रेष्ठ प्रबंध माना गया। मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ कि कुँवर साहब जिन दिनों महाकाव्यों का प्रणयन कर रहे थे उन्हीं दिनों 'वृन्दावन' खण्ड काव्य के साथ–साथ लघु आकार के छोटे–छोटे गीतों की रचना भी कर रहे थे, जिन्हें आपके लिए गीत कहना उचित नहीं प्रतीत होगा। परन्तु अनुभूति की गहनता के आधार पर इन्हें गीत कहा गया है। खेद है कि सन् 1994 ई0 के बाद रचे गये गीत जो एक कॉपी में लिखे थे, वह कॉपी अभी तक मिल नहीं सकी है। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि वे अपने महाप्रयाण के पूर्व सन् 1996–97 ई0 तक गीत रचते रहे थे।

कुँवर साहब के ब्रह्मलीन होने के बाद उनके काव्य–विमर्श का दायित्व मुझ पर था। कारण यह है कि मैं उनके द्वारा सन् 1980 ई0 में स्थापित 'अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी समिति (भारत)' का महामंत्री था। इसीलिए प्रतिवर्ष उनकी जन्म की जयन्तियाँ आयोजित होने लगीं। इन

जन्म–जयन्तियों द्वारा उनके काव्य–सौंदर्य को जानने का सु–अवसर मिले। सन् 2009 ई0 में जब उनके शताब्दी वर्ष के आयोजन का संकल्प लिया गया तब मैंने उनकी समग्र काव्य– साहित्य–साधना का अवगाहन करने का प्रयत्न किया था। इसी प्रयत्न के दौरान हमने पाया था कि उनके द्वारा रचे गये असंख्य गीत तथा कविताएँ प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं। अन्त में प्रकाशन की बाट जोहने वाले उनके गीतों का गीत–संग्रह 'घनमाला' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस गीत–संग्रह के नाम करण के मूल में सन् 1993 ई0 में रचा गया एक गीत है जो कुँवर साहब के प्रथम गीत–संग्रह 'मेघमाला' से मेल खाता है– विचर रही 'घनमाला'– से 'घनमाला' शब्द लेकर इस गीत–संग्रह का नामकरण किया है। वह गीत इस प्रकार है–

विचर रही घनमाला।
उमड़ी नभ में पंख पसारे
ज्यों खग पंक्ति अराला।
चित्र विचित्र हो रहे अंकित,
बहुरंगी किरणों से ज्योतित,
यह सौंदर्य गीतिमय गतिमय,
किसकी है, कृतिशाला।
चला गया उठ ऊपर सागर,
है उद्भासित अशेष दिक्–प्रसर,
धूम–फेन से छादित अंबर,
विस्फूर्जित हो रही चंचला
मानव बाड़व ज्वाला।

जब अम्बर में घनमाला छा जाती है, तब वह आसमान में स्थिर नहीं रहती है, वह पवन के सहारे आसमान में सन्तरण करती रहती है। 'घनमाला' का सन्तरण ऐसा लगता है जैसे बहुरंगी पंख पसारे पक्षियों की पंक्ति उड़ रही है। जिन लोगों ने मेघमय आसमान देखा है, वे जानते होंगे कि आसमान में सन्तरण करने वाले मेघखण्ड (बादल) सूर्य की किरणों से क्षण–क्षण अपना रूप बदलते हुए प्रतीत होते हैं। घनमालाओं का यह सौंदर्य गतिमय और

गीतमय लगता है। कवि कहता है–वह कौन है, जो अपनी कृतिशाला का ऐसा गतिमय परिवर्तनशील रूप इन घनमालाओं को प्रदान करता है! यही नहीं ऐसा लगता है, जैसे सागर ही उठकर बादल के रूप में सभी दिशाओं को उद्भाशित कर रहा है।

'घनमाला' कुँवर साहब की काव्य–साधनका अन्तिम गीत–संग्रह है। इस संग्रह में उनके द्वारा सन् 1994 ई0 तक रचे गये कतिपय गीत संकलित हैं। इन गीतों में छायावादी भाव–भूमि के गीतों के साथ–साथ कुछ गीत कवि की व्यथा–कथा को उद्घाटित करने वाले गीत भी संकलित हैं। हम मोटे तौर पर इन गीतों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(1) छायावादी भाव–भूमि के गीत।

(2) कवि–जीवन की व्यथा–कथा के गीत।

(3) विरह वेदना के गीत।

(4) नवगीत शैली में रचे गये गीत।

(5) यथार्थवादी गीत।

छायावाद के अन्यान्य विरोधों के बाद आज यह सभी स्वीकार कर चुके हैं कि छायावाद हिन्दी की सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ काव्य प्रवृत्ति है। यह हिन्दी–समीक्षा का दिवालियापन ही कहा जाना चाहिए कि हमने कुँवर साहब को छायावाद का प्रमुख कवि स्वीकार नहीं किया। जबकि कुँवर साहब ने छायावाद को शताब्दी व्यापी व्यक्तित्व प्रदान करने की साधना की है। हमें यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं है कि यदि छायावाद में कुँवर साहब का आगमन न हुआ होता तो छायावादी काव्य–प्रवृत्ति का अन्त सन् 1938 ई0 में मान लिया गया होता। कारण यह है कि आचार्य शुक्ल ने छायावाद का अभ्युदय सन् 1918 ई0 में और अन्त सन् 1938 ई0 में माना था। यह सभी जानते हैं कि छायावाद के चारों प्रमुख कवि– पन्त, प्रसाद, निराला तथा महादेवी वर्मा क्रमशः सन् 1932, सन् 1935, सन् 1938 तथा सन् 1942 ई0 में छायावादी भाव–भूमि को छोड़ गये थे। आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह एकमात्र ऐसे कवि हैं जो सन् 1931 ई0 में छायावाद में दीक्षित हुए थे और सन् 1997 ई0 तक छायावादी ही बने रहे।

छायावादी कवियों ने प्रेम और सौंदर्य के साथ–साथ प्रकृति पर सर्वाधिक गीतों तथा कविताओं का सृजन किया है। इसीलिए छायावाद को प्रकृति–काव्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। हिन्दी–समीक्षा पन्त को प्रकृति का चतुर चितेरा कवि मानती चली आ रही है।, परन्तु यदि छायावादी कवियों द्वारा प्रकृति पर रचे गये गीतों तथा कविताओं का तटस्थ रूप से अनुशीलन किया जाये तो पता चलेगा कि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ही छायावादी कवियों में प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। कुँवर साहब का प्रकृति चित्रण स्वानुभूति परक तथा स्वाभाविक है। हिन्दी महीनों पर लिखे गये उनके गीत अतुलनीय हैं। कुँवर साहब के ॠतु सम्बन्धी गीत अपनी पूरी परिवेश सजगता तथा जन–जीवन में उसके प्रभाव के कारण अपना प्रभाव छोड़ने में अधिक सफल हैं। छायावादी कविता में बादलों पर सर्वाधिक गीत तथा कविताएँ रचे गये हैं। निराला को प्रायः बादलों का कवि कहा गया है, परन्तु कुँवर साहब ने बादलों पर निराला से अधिक गीतों तथा कविताओं की रचना की है। कुँवर साहब के दो गीत–संग्रह 'मेघमाला' तथा 'घनमाला' बादलों के नाम से प्रकाशित हैं। विज्ञान यह कहता है कि गर्मी के कारण सागर का पानी वाष्प बनकर उड़ता है और पर्वतों की शीतलता से ठंड़ा होकर धरती पर बरसता है और धरती की प्यास ही नहीं बुझाता है, वह नवजीवन का संचार भी करता है, परन्तु कवि कहता है– 'वे (बादल) सागर से नहीं, स्वर्ग से नवजीवन का प्लावन' लाते हैं। बादलों के प्रति भावुक कवि बादलों का मनोहर अधिवास अति चेतन के शीर्ष शिखर पर मानता है। वे वहीं से उतर कर धरित्री पर सोम सुधा की वर्षा करते हैं। कवि संसृति को नहलाने वाले बादलों को सत्य, वृहत, आनन्द रूप मानता है। वे ॠत के संवाहक है और वे ही चरम सत्य के तीर्थ पर अपनी वर्षा करते हैं। बादलों के प्रति ऐसी अलौकिक भव्य कल्पना अन्यत्र दुर्लभ है–

बादल नये–नये आयेंगे!
वे सागर से नहीं, स्वर्ग से,
नवजीवन प्लावन लायेंगे।
अति चेतन के शीर्ष–शिखर पर,
इनका है अधिवास मनोहर,

उतर धरित्री के प्रांगण पर,

सोम सुधा ये बरसायेंगे।

सत्य, वृहत, आनंद रूप ये,

ऋतु के संवाहक अनूप ये,

चरम सत्य के परम तीर्थ में,,

ये संसृति को नहलायेंगे।

अंतर्ज्ञान गहन ये चिन्मय,

कर देंगे जीवन अकुतोभय,

असत् तमस पर और मृत्यु पर,

जय पा नित नव सरसायेंगे।।

भारत का ऋतु–चक्र विश्वविख्यात है। इस ऋतु–चक्र के हिन्दी महीनों पर कुँवर साहब ने सबसे अधिक गीतों तथा कविताओं की रचना की है। इन गीतों में जहाँ प्रकृति का सौंदर्य सामने आता है, वहीं मानव–जीवन पर उसके प्रभाव के अंकन में कवि को पूरी सफलता मिली है।

माघ का महीना जाड़ों का अन्तिम महीना है। माघ के बाद फागुन (बसंत) आता है। माघ महीने में जब बादल छाते हैं, और घना कुहरा पड़ता तब चारों ओर अंधकार सा छा जाता है। वन, बाग, हार सब तिमिराछन्न हो जाते हैं। इस स्थिति में सर्दी इतनी पड़ती है कि दिन ठंड़ के कारण ठिठुर जाते हैं। इस घने कुहरे में खेतों में खिले हुए सरसों के फूल अपनी पीतिमा के कारण दूर से दिखलाई पड़ते हैं। कवि–कल्पना है कि फूलों की किरण ज्योति मानों बसन्त को इस सृष्टि की रक्षा के लिए पत्र लिखती है। अपनी व्यथाएँ हरने का आमंत्रण भेजती है। प्रकृति के इस आह्वान का क्या प्रभाव होता है, वह इस गीत में देखा जा सकता है–

दिन ठिठुर रहा कुहरे के

बादल छाये ।

वन, बाग, हार सब हैं घन तिमिर छिपाये ?

सरसों के फूलों की यह टिमटिम बाती,

है किरण ज्योति की केवल वही जगाती,
वह भेज रही लिख–लिख वसंत को पाती–
आओ हम सब मिल
जग की हरें व्यथायें ।
आह्वान सुना, ज्वाला किसलय बन जागी,
ऊर्जित पलाश ने वन में आग लगा दी,
बेला ने अपनी विगल हँसी बिखरा दी,
मंजरियों ने सौरभ के गीत सुनाये ।
कुंठाओं की कोठरियों के अधिवासी,
संत्रासों के श्वापद चिर तिमिर–विलासी,
है जिन्हें आत्म निर्वासन की प्रिय फाँसी।
वे त्रपाहीन जन पत्रहीन बन भाये।
वे देख न पाये मंगल क्रान्ति उशा –सी–
स्वर्णिम किरणों से ये चर–अचर नहाये !

यह गीत छायावाद का सर्वश्रेष्ठ गीत है। ऐसा गीत हिन्दी के छायावादी युग में आज तक नहीं रचा जा सका। कुँवर साहब छायावादी कविता को उषा के समान चिर नवीन मंगल क्रान्ति मानते हैं। कवि का विश्वास है छायावादी कवियों द्वारा जैसी कविताओं का सृजन किया गया है, वैसी कविताएँ हिन्दी की किसी काव्य–प्रवृत्ति में नहीं रचीं जा सकीं, परन्तु कुण्ठाओं की कोठरियाँ अधिवासी, ये अंधकार जीवी बर्बर, निर्लज्ज पत्रहीन (नंगे) हिन्दी के समीक्षक छायावाद की मंगल क्रान्ति को नहीं समझ सके। इसीलिए इस कविता का तिरस्कार हुआ है। कुँवर साहब छायावाद के विरोधी आचार्यों को देख चुके थे। उन्होंने आचार्य शुक्ल जैसे रस ग्राही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सन् 1936 ई0 में कक्षा में खुले आम छायावादी कवियों को गाली देते सुना था। इसीलिए वे उन आलोचकों पर प्रहार करते हुए लिखते हैं–

कुंठाओं की कोठरियों के अधिवासी,
संत्रासों के श्वापद चिर तिमिर–विलासी,

है जिन्हें आत्म निर्वासन की प्रिय फाँसी,
ये त्रापहीन जन पत्रहीन बन भाये।
वे देख न पाये मंगल क्रांति उषा–सी–
स्वर्णिम किरणों से ये चर–अचर नहाये।

छायावाद के विरोधियों पर इससे करारा प्रहार आज तक किसी भी आचार्य ने नहीं किया। आज यदि आचार्य शुक्ल जीवित होते तो उन्हें याद आ जाता कि छायावादी कविता का विरोध करना तथा छायावादी कवियों को गाली देने का परिणाम क्या होता है?

कुँवर साहब यद्यपि नवगीतकार नहीं हैं तथापि उन्होंने अपनी काव्य–साधना के प्रथम उत्कर्ष काल में ही लोक सम्प्रति के कुछ सरल भाव के ऐसे गीतों का सृजन किया था, जिन्हें डॉ0 शम्भूनाथ सिंह ने नवगीत की संज्ञा प्रदान की थी। कुँवर साहब के गीतों का संकलन जो सन् 1942 ई0 में प्रकाशित हुआ है, उसमें कुछ ऐसे गीत संकलित हैं, जिन्हें नवगीत कहा जा सकता है। 'लुट रहा हास' एक ऐसा ही गीत है। यही नहीं, कुँवर जी का जो गीत–संग्रह 'घनमाला' सन् 2016 ई0 में प्रकाशित हुआ है, उसमें भी कुछ गीतों को नवगीत की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इस संकलन में भी एक ऐसा गीत संकलित है जिसे कुँवर साहब ने 'नवगीत शैली' में रचा गया गीत माना है। यह गीत अपनी भाव–भूमि में छायावादी है। इसमें नारी के रूप तथा उसकी तरुणायी की भंगिमाओं का अंकन किया गया है। रूप की यही कान्ति सरसों के फूलों के समान जगमग करती प्रतीत होती है। और तरुणी की तरुणायी जो उसके अंग–अंग में ऐसे बलखाती हुई प्रतीत होती है, जैसे गेहूँ की खेतीं में पुरवाई लहर उठाती है। इस गीत के सभी उपमान अनूठे हैं और बिम्ब भाव–व्यंजक। तरुणाई में रूपवती तरुणी की अंग–भंगिमाओं का इससे श्रेष्ठ गीत छायावादी कविता में दुर्लभ है। यह गीत कवि की ललित कल्पना का आदर्श उदाहरण है–

रूप वह शिशिर–सुहानी धूप !
सरसों के फूलों सी जगमग
तन की कान्ति अनूप !
अंग–अंग में बलखाती–सी थी बेसुध तरुणाई,

लहर उठाती ज्यों गेहूँ के खेतों में पुरवाई,,
अथवा जैसे गंध लुटाती फागुन की अमराई––
चकित दृष्टि कुंदों की सुषमा–सरि
की थी प्रतिरूप।।
चिकने काले घुँघराये आगुल्फ विलम्बित केश,
माना निशि ने जीत लिया हो दिन का ज्योतिर्देश,
अवगुंठन रचता था शशि का नित नूतन परिवेश–
हाय कहाँ वह गया
रह गया मैं स्मृतियों का स्तूप।।

कुँवर साहब ग्रामवासी है। गाँवों से उनका सम्बन्ध बराबर बना रहा। इसीलिए उनकी कविता के उपमान तथा बिम्ब ग्राम–प्रकृति से चुने गये हैं। इनमें एक ताजगी तथा अनूठापन है।

यह सभी जानते है कि छायावादी कविता कवि की अनूभूति की अभिव्यक्ति की भंगिमा की कविता है। यह कविता विषय प्रधान (Subjective) होने के कारण कवि के राग–विराग की कविता है। इसमें इस युग के प्रत्येक कवि की कविता में उसके व्यक्तिगत जीवन के सुख–दुख तथा संघर्ष से सम्बिन्धित कविताएं बहुविध रची गयी हैं। व्यक्तिगत–जीवन की इन्हीं कविताओं में कवि का जीवन–संघर्ष उद्घाटित हुआ है। निराला ने अपने जीवन–व्यापी संघर्ष को समय–समय पर व्यक्त किया है। 'दुख ही जीवन की कथा रही' कविता कवि की इसी मानसिकता को उद्घाटित करती है। निराला के समान ही कुँवर साहब का जीवन कम संघर्ष पूर्ण नहीं रहा है, परन्तु वे अपने जीवन के संघर्षों तथा सुख– दुख के गायन से बचते रहे हैं, फिर भी उनके जीवन की यह पीड़ा निम्नांकित गीत में साकार हो उठी है–

दर्द ही दर्द बेदर्द मुझको मिला,
जिंदगी का सुमन कंटकों में खिला ।
वार पर वार झेला किया अनवरत,
शान्ति–सुख छोड़ मुझको हुए भूमिगत।

प्राण में मैं पपीहा बसाये हुए

घूँट पर घूँट विश जा रहा हूँ पिए ।

मैं जिया ताप की भट्ठियों में जिया,

अंधड़ों में न बुझने दिया पर दिया।

दूर पर दूर होता किनारा गया,

मैं बहा किन्तु मझधार बन रह गया।

खे चलो, ले चलो डूबती है तरी,

जीर्ण है और है कोटि छिद्रों भरी।

अब न कोई सहारा कहीं शेष है,

देव ! कितना तुम्हारा अगम देश है।

इस भाव–भूमि पर रचे गये अनेक गीत 'घनमाला' में मिल जाते हैं। कैसे कटे कैसे कटे। तिमिरमय रात/कैसे कटे कैसे कटे,पीता हूँ पल–पल/ज्वलित हलाहल हाला आदि गीत इसी भाव–भूमि पर रचे गये हैं।

संघर्षों में पला–जिया कवि संकट के दिनों में केवल परमपिता परमात्मा को ही याद नहीं करता है, ऐसे क्षणों में उसका प्रिय भी याद आता है, जिसने उसे दिग्भ्रम से बचाया था और उसके जीवन को सरस बनाया था। उसको भी वह स्मरण करता है। वहीं उसका एक मात्र सहारा है–

ओ मेरे ध्रुव तारा !

सूख गई जीवन के मरु में

अंतर की रसधारा।

स्नेहसिक्त कर दो सब बंधन,

वंचित रहे न बुझा हुआ मन,

चरम निशित सुधियों के –

दंशन की हो मधुमय कारा।

अब विश्लेष नहीं पता झिल,

पथ न कभी हो मेरा पंकिल,

करो प्रकाशित कण–कण तिल–तिल,

मेरे तुम्हीं सहारा।

सन् 1980 ई0 के बाद पत्नी के निधन के कारण उनका जीवन वेदना से भर जाता है। इसलिए इस युग के गीतों तथा कविताओं में कवि की विरह–वेदना साकार हो उठी है। इसीलिए वह चार–चार, छः–छः तथा आठ–आठ पंक्तियों में अपनी विरह–वेदना की अभिव्यक्ति करता रहता है। कवि की पत्नी ही उसकी प्रियतमा है उसने ही उसके जीवन में अमृत घोला था, वहीं उसके जीवन की उषा थी उसके चले जाने पर उसके वियोग में कवि ने सैकड़ों पंक्तियाँ सृजित की हैं। यहाँ कवि के विरह–वेदना का यह गीत पठनीय है। कवि लिखता है यद्यपि दिन वही हैं, ऋतु–चक्र वही है तथापि जीवन नीरस हो गया है, सब कुछ उजड़ गया है–

दिन हैं वे ही, वे ही रातें,
ऋतुओं का क्रम भी है वैसा,
सूखा–सूखा, अतिशय नीरस,
सब कुछ लगता उजड़ा जैसा!
मेरे जीवन की सुख–समष्टि–
सब गई तुम्हारे साथ आह !
धौंकनी–सदृश आती – जाती,
हैं साँसें, अब जीवन कैसा ?

इसी मनःस्थिति के कारण जो 'बादल' कभी कवि के संयोग सुख की अनुभूति कराते थे वही 'बदरा' 'बद राह' होकर दुःसह दुख देने वाले हो गये हैं। इस भाव–भूमि पर रचा गया 'यह बदरा बदराह हो गये' गीत पढ़ने योग्य है।

हो गये ये बदरा बदराह !
बेदरदी घिर, घिर फिर–फिर ये
देते दुःसह दाह !
दिन को रात बनाते हैं ये,
आग लगाते आते हैं ये,
आँसू के सागर में मुझको,
आह! न मिलती थाह।

यह बिजुरी बेजार कर रही,
अंगारों की धार झर रही,
मुझे डुबाता आता है यह,
काला, काल – प्रवाह।
सकल दिशायें आँजन आँजे,
धरती धानी अंबर साजे,
खिले कदम्बों के कुंजों की,
अब न मुझे सखि! चाह।।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद हम कह सकते हैं कि कवि की काव्य–साधना में 'घनमाला' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें जहाँ एक ओर छायावादी कविता का भाव–वैविध्य हिलोरे लेता प्रतीत होता है, वहीं दूसरी ओर कवि के जीवन की व्यथा–कथा चरितार्थ हो उठीं हैं। कहने का अर्थ यह है कि चाहे छायावादी भाव–वैविध्य हो या वेदना की विवृत्ति, सभी कविताएं छायावादी भाव–भूमि को चरितार्थ करने वाली हैं।

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह की ग्रन्थावली के द्वितीय खण्ड में संकलित काव्य–कृतियों के संक्षिप्त विवेचन के बाद हम इस निश्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी की आधुनिक कविता में द्विवेदी युग की समाप्ति के कुछ वर्ष पूर्व सन् 1916 ई0 में जिस नूतन भाव–बोध की कविता–छायावाद का अभ्युदय हुआ था और उसका अन्त सन् 1940–42 ई0 में मान लिया गया था, उसे कुँवर जी ने अपनी काव्य–साधना अकेले दम शताब्दी व्यापी व्यक्तित्व प्रदान किया था। यह सभी जानते हैं कि कुँवर जी सन् 1931 ई0 में निराला के सम्पर्क में आने के बाद पूरी तरह से छायावादी भाव–भूमि से जुड़ गये थे और अन्त तक छायावादी ही बने रहे। इस अवधि में उन्होंने जिन गीतों तथा कविताओं का सृजन किया था, वे सभी पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हैं।

कुँवर जी ने अपनी क्रान्तिकारी प्रतिभा से अपने गीतों, अपने प्रगीतों, अपने छंदों, अपने मुक्त छंदों, अपनी आख्यानक कविताओं, अपने खण्ड काव्यों, अपने महाकाव्यों तथा अपने नाटकों द्वारा छायावाद को हिन्दी कविता का स्वर्ण युग बनाने में अपना अभूतपूर्व योगदान देकर हिन्दी जगत को चकित कर दिया है। यदि देखा जाये तो कुँवर जी को छोड़कर छायावाद का

कोई एक कवि भी ऐसा नहीं है, जो आदि से अन्त तक छायावादी भाव–भूमि पर स्थिर रह सका हो। एक महादेवी वर्मा ही ऐसी कवयित्री हैं, जो छायावादी भाव–भूमि पर स्थिर दिखाई पड़ सकती हैं, परन्तु उनकी भाव–भूमि अत्यधिक सीमित है। हिन्दी कविता के आन्दोलन जीवी युग में भी कुँवर जी ने अपराजेय योद्धा की भाँति अपने अदम्य आत्म–विश्वास से छायावाद की मंगल–क्रान्ति को अजर– अमर कर दिया। मुझे विश्वास है 'कुण्ठाओं की कोठरियों के अधिवासी' अपनी कुण्ठा त्यागकर कुँवर जी की कविता की मंगल क्रान्ति का अवगाहन कर सकेंगे।

कुँवर साहब की काव्य–कृतियों के विश्लेषण तथा विवेचन से यह बात प्रमाणित होती है कि वे अद्यन्त छायावादी भाव–भूमि के कवि रहे हैं। वे आधुनिक हिन्दी कविता के एक मात्र ऐसे कवि हैं जो आन्दोलन जीवी कविता की काव्य प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त रहे हैं। यद्यपि कुँवर साहब भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पुजारी रहे हैं तथापि उनके गीतों में छायावादी युग के कवियों का भाव–वैविध्य विद्यमान है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी काव्य–साधना तथा अपने काव्य–व्यक्तित्व से छायावाद को शताब्दी व्यापी व्यक्तित्व प्रदान किया है। जहाँ एक ओर छायावाद के अन्य कवि विभिन्न कारणों से छायावाद की भावभूमि का परित्याग करते हुए प्रतीत होते हैं वहीं दूसरी ओर महाकवि कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह अपनी आत्मनिष्ठा के कारण छायावादी भाव–भूमि से कभी अलग नहीं गये।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी–कविता के सहृदय पाठक कुँवर साहब की काव्य–साधना के दूसरे तथा तीसरे खण्ड की कविताएँ पढ़ कर छायावाद को सही ढंग से पहचान सकेंगे और आचार्य कुँवर साहब को हिन्दी–कविता में वह स्थान प्रदान कर सकेंगे, जिसके वे अधिकारी हैं।

शिव मोहन सिंह

ऋतंभरा

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

लेखक समवाय
लोक साहित्य परिषद्

¡ प्रथम संस्करण :
दीपावली, १६७८ ई०

¡ प्रकाशक :
लेखक समवाय
लोक साहित्य परिषद
१६२/ए/१३२, लेक गार्डेन्स, कलकत्ता-४५

¡ स्वत्त्वाधिकार :
रचयिता

¡ मुद्रक :
सिंह प्रेस
१६२/ए/१३२, लेक गार्डेन्स, कलकत्ता-४५

¡ मूल्य :
पाँच रुपये

दो शब्द

डॉ० कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह की गणना उत्तरकालीन छाया-वादी युग के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है। ऋतंभरा आपकी स्फुट कविताओं का संकलन हैं, जिसकी सभी कविताएँ हिन्दी की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में पूर्वतः प्रकाशित हो चुकी हैं।

ऋतंभरा की कविताओं का प्रमुख स्वर सौन्दर्यनिष्ठ और अन्त-श्चेतना-प्रधान है। संवेदना की गंभीरता तथा मसृणता नादात्मक और चित्रात्मक सौन्दर्य से संवलित होकर रस-प्लावित कर देने में सर्वथा स्पृहणीय हैं। कवि की अन्तश्चेतना की विपंची के तार अनुभूति के क्षणों के प्रत्येक संघात से झनझना उठे हैं और गीत की ज्योति-जान्हवी कविता की प्रत्येक पंक्ति को प्राणों से प्लावित करती हुई बह निकली है। जीवन और प्रकृति के प्रति कुँवर साहब का आकर्षण अपरिमेय है, किन्तु वासना की आविलता का कहीं संस्पर्श भी नहीं हो पाया है। सभी कविताएँ छन्दोबद्ध हैं। छन्दों का निर्वाचन और नियोजन स्तुत्य है। ऋतंभरा छन्दों के सौष्ठव पर दृष्टिपात करते ही डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहना पड़ता है कि ‘‘छन्द एक समूहगत शक्ति है, एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान् साधन है। छन्द भार-साम्य की रक्षा करता है, सन्तुलन नहीं बिगड़ने देता...।’’

विश्वास है कि विद्वानों के जगत में कुँवर साहब की अन्य-काव्य कृतियों की भाँति ही ऋतंभरा का भी स्वागत होगा।

-प्रबोध नारायण सिंह

अनुक्रम

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	शुभे शारदे जय, जय!	9
2.	करुण कितना प्रणय!	10
3.	शुचि-स्मित वर्णाभरणा!	11
4.	रहोगी नयनों में, मन में;	12
5.	पंक उर अंक पर	13
6.	बनी अभिरामा!	14
7.	रे, खोज-खोज सब हारा।	15
8.	बैठा हूँ वेदना छिपाये!	16
9.	पार कर पार रे!	17
10.	पंथ पर उनके दृगों के	18
11.	खुल गये जड़ तम के दृग बन्द	19
12.	रुक-रुक जाता फिर-फिर पुकार-	20
13.	आओ मानसि, मन मौन-मना!	21
14.	यह तुम्हारा हास!	22
15.	छीनते हो क्षण-क्षण जीवन!	23
16.	चल रहे सब मौन।	24
17.	अर्थ ही क्या ?	25
18.	खोज न व्यर्थ बसेरा!	26
19.	अलि, यही बेला!	27
20.	आज स्वर भर सिहर पिक ने	28
21.	बही नई बयार!	29

22.	कब तक होगा सहना?	30
23.	अस्त रजनी!	31
24.	गए दिवस पार कर दिवाकर	32
25.	आए खंजन री!	33
26.	हेमन्त हँसा!	34
27.	रह-रह कह जाती!	35
28.	बरसो बरसो पावस!	36
29.	फिर आए री, बादल।	37
30.	रे वक्र शक्र-धनु भृकुटि तान	38
31.	विरही वन वन में,	39
32.	पावस समीर बहती हर-हर!	40
33.	लुट रहा हास,	41
34.	मुझे निज वेदना का बल है!	42
35.	अब तो करो पार!	43
36.	खोजूँ किसे और?	44
37.	रे, खोया मैं जीवन-वन में	45
38.	तुम्हें बाँध बाहों में!	46
39.	आते जो, वे मिट जाते	47
40.	बहा और सहा!	48
41.	चढ़ती दुपहर	49
42.	मिला यह वरदान	50
43.	मधु-ऋतु की मधुर विहान, प्रिये!	51
44.	प्रिय, तेरे पथ पर बही-बही	52
45.	तुम छेड़ रहे यों बार-बार	53
46.	लाज लिपटी रे, लटपट चरण,	54

47.	तुम मेरे, हम तेरे!	55
48.	रे सुख के दुख के चपल चरण	56
49.	चल अचपल पल-पल चितवन,	57
50.	मुँद गए दिवस के विवश	58
51.	अन्तस्तल में पैठी!	59
52.	तेरा नाम तेरा ध्यान	60
53.	दे रहे मधु दान अलि, घन!	61
54.	बीते रे, दिन बीते!	62
55.	मिला जीवन, बन परिपूरण	63
56.	मानव-दंशित मानव,	64
57.	असफल सफल करो	65
58.	आई यह शारद शुभ्र रात!	66
59.	श्यामल, कोमल, चंचल अलकें,	67
60.	तुम हो, फिर यह व्यथा रहे क्यों?	68
61.	सब ओर तुम्हें चित्रित देखा,	69
62.	तड़ित की चकित दृष्टि से	70
63.	देखो, प्रिय! गृह के आँगन में	71
64.	पल रहे प्रति वृन्त पर	72
65.	आया री! अषाढ़ फिर आया!	73
66.	देखो चतुर्दिक	74
67.	शुक पिक-चातक के गीतों में,	75
68.	मिलेगा किनारा, मिलेगा किनारा	76
69.	पाया स्नेह न कभी तुम्हारा,	77
70.	तिमिर हर चरण तल विश्व नत मुग्ध-सा,	78
71.	निराशा की अमा में	79

72.	उठा लो नई तूलिका आज आओ	80
73.	बहा अलि, विषम बसंत-समीर!	81
74.	नया प्रभात आ रहा,	82
75.	खेलो आज प्राण की होली!	83
76.	तोड़ कर अपने बन्धन शेष,	84
77.	मैं किनारा हूँ, सदा तुम सिन्धु मेरे	85
78.	प्राण तुम हो टेक मेरी इस व्यथा की	86
79.	लीन सब तेरे चरण में।	87
80.	नव वसन्त-विलासिनी हे!	88
81.	ढुलकाती आई उषा आज	89
82.	खोल रुद्ध गवाक्ष आते हो स्वयं यों,	90
83.	पुतलियों में श्यामता बन तुम समाये,	91
84.	आज दर्पण में न निज को देख पाती,	92
85.	आज मैंने रात आँखों में बितायी,	93
86.	निशा तिमिर के	94
87.	तेरे दीपक में स्नेह कहाँ?	95
88.	सुपक्व स्वर्ण शस्य से	96
89.	युग-युग जलेगी	97
90.	रस पोषित कोकिल के कुल से	99
91.	यहाँ आकर के कर के कर में, मन-	100
92.	तुम जा रहे हो, यह जान निशीथिनी-	101
93.	अम्बर मेघों का बहुरंगी उष्णीष सजे,	102

(९)

शुभे शारदे - जय जय,
तमहर मंगल - पद - तल,
विकसित सित विश्व- कमल,
भावोदधि - ऊर्मि - तरल,
नंदित जग- जीवन - जय,

ज्योत्स्नांशुक शुचि सभंग,
शोभित नव अंग - संग,
वीणा - वर - स्वर - तरंग,
क्षालित तन -मन निर्भय!

चन्द्रानन चारु - हास,
उर - उर निर्जर प्रकाश,
व्योम छत्र, सोल्लास,
मुखर हंस - 'मातः जय!

(२)

करुण कितना प्रणय!
सकल सुख - शृंगार का,
कुछ आँसुओं में लय!

कामनाओं की चिता बन,
जली मैं, अनुदिन निपीड़न,
किन कठिन हाथों हुआ सखि!
हृदय का यह क्रय!

सतत छलनामय शुभाशा,
वेदना ही शेष भाषा,
दग्ध - अंतस रह गया,
कुछ सुकृति-स्मृति-संचय!

ताप से सब कुछ गया गल,
शून्य ही अवशेष केवल,
रोकता रे, क्यों खड़ा पथ,
निठुर नील निलय!

(३)

शुचि - स्मित वर्णाभरणा!

थर - थर - थर नीलांबर,
बहा पवन परिमल भर,
प्रतिहत तम के स्तर- स्तर,
जागी किरणास्तरणा!

व्यंजित रे, नव - नव स्तव,
उत्थित खग- कुल- कलरव,
खोले दल मुद्रित भव,
उतरो शिंजित - चरण!

(४)

रहोगी नयनों में, मन में;

सुन्दरी, प्रति जीवन-क्षण में!
तुम्हारी मुख-सुषमा अवदात,
रँगेगी मेरी सायं - प्रात,
मधुतर चरणों के मंजीर,
बजेंगे उर के कंपन में।

तुम्हारी अलकाकुल वातास,
बनाऊँगा प्राणों की साँस,
हासमय अंगों का मधुमास,
खिलेगा कानन-कानन में!

(५)

पंक-उर अंक पर पद्म-कौन तुम?

अंध - तम हर प्रखर,
तपन आलोक-कर,
रँग रहे जीवनाशा-
मुकुल मौन तुम!

ज्योति - चुंबित तुले,
प्रणय - रस में धुले,
प्राण खुल पूछते,
प्राणधन, कौन तुम?

(६)

बनी अभिरामा!
ज्योति की प्रतिमा प्रतनु,
तरुणी सहज श्यामा!

संध्या अंचल में अचंचल,
नयन युग तारक रहे जल,
सघन घन - केशा सजल,
छवि की क्षमा क्षमा।

वासना के विश्व की धृति,
पुण्यमय लावण्य की कृति,
प्राणप्रिय के प्रणय की,
सृति-सरित वह वामा!

(७)

रे, खोज-खोज सब हारा।
वह मिला न श्रेय-सहारा।

लखते ही मैं किस ओर बहा,
भ्रम का न कहीं कुछ छोर रहा,
किसने रजनी को भोर कहा,
यह व्यर्थ हुआ श्रम सारा।

समझा रे, तूही शांति - शयन,
निज छोड़, रहा दुख-शोक पहन,
जग यह तेरा ही मोह - नयन,
तुम बनता अपनी ही कारा।

पाया तम- भेद प्रकाश वहाँ,
तकता पथ खिन्न निराश जहाँ,
करता फिर एश विशेष कहाँ,
खो दी जब अपनी दृग-तारा।

(८)

बैठा हूँ वेदना छिपाए।

उर में अनल, दृगों में जल है,
आशा की छलना अविरल है,
जीवन प्रतिपल विषम गरल है,
पीकर जिसे गरल जल जाए।

मेरे तम - जग के ध्रुव तारा,
सुनो, कह रहा क्या पथ-हारा,
मुझको मुक्ति-युक्ति की कारा,
हेरो, हार विजय बन जाए!

(६)

पार कर पार रे!

ऊर्ध्व पथ चढ़ रही, बढ़ रही धार रे!

खुले दल कमल पर नवल प्रातः किरण
सोहती ध्वनित संगीत सुन मधुर स्वन,
पवन अनुकूल द्रुत चरण कर संतरण,
हार उर की, न उस पार नीहार रे!

रोध की, शोध निज बोध, मिथ्या कथा,
सर्वथा दूर होंगी, यहाँ जो व्यथा,
इष्ट अति मिष्ट होता नहीं अन्यथा,
सिद्धि लह जाय, बह जाय संसार रे!

(१०)

पंथ में उनके दृगों के पाँवड़े बैठी बिछाए!
प्राणधन अब तक न आए!

वेदना की अग्नि से उर-पिंड तप, तप विकल अविकल,
बह गया नवनीत-सा वह आँसुओं में पिघल गल-गल,
शून्य अंतस् में सघन घन से विपुल उच्छ्वास छाए!
प्राणधन अब तक न आए!

कर चुकी अर्पित जिन्हें सर्वस्व, जीवन जन्म, यौवन,
सालती जिनकी प्रतीक्षा आज क्षण-क्षण मरण बन, बन,
उन शरद-राकेश को बैठा अमा का तम छिपाए!
सजनि! प्रिय अब तक न आए!

(११)

खुल गये जड़ तम के दृग बन्द,
जगत के उर उतरी निष्पन्द।

प्रभा के अंग किरण - परिधान,
तरुण-मुख अरुण, नयन नव ज्ञान,
अचल पल जागृति के, प्रिय-ध्यान,
खुल रही जलजों में स्मिति मन्द।

हृदय में आ अशब्द पद-चाप,
सतत शत शब्दों में आलाप,
खुले सुमनों से सुख से काँप,
बहे रस के सौरभ के छन्द।

(१२)

रुक-रुक जाता फिर-फिर पुकार।
तू मुक्ति, भुक्ति की अन्ध - शुक्ति,
बाँधती मुग्ध, चलती न युक्ति,
विक्षुब्ध, सतत अनुरक्ति शक्ति,
खोलेगी जागृति स्वर्ण- द्वार।

संपुटित जलज-जड़ विभा-मौन,
खोया अलि बन्दी लुब्ध मौन,
लख, देता उसको मुक्ति कौन,
फिर विजय - हार, क्यों बैठ हार।

(१३)

आओ मानसि, मन मौन - मना!
कच -जाल विकल लहरे - लहरें,
चरणों तक आकर हों ठहरें,
बिधु पर घन श्याम घिरे गहरे,
ऊषा पर निशा - वितान तना।

नयनों में ज्योति अमन्द लिए,
अरुणोदय की छवि मन्द किए,
उतरो, फिर मैं कह उठूँ प्रिये,
हँस, हर लो उर का तिमिर घना।

(१४)

यह तुम्हारा हास!
शून्य रे, निर्मित मनोरम-
ज्योति - ज्योत्स्नाकाश!

नयन - इंगित पर तरंगित,
संसरण जीवन - मरण नित,
मन्द - गन्ध - स्पन्द - सृत,
मृद- मृदु समीरण लास।
सूर्य शत, शत-शत महत ग्रह,
भ्रान्त - से आक्रान्त अहरह,
शान्त मानव, प्राप्त वह,
चिर शरण, स्थिर आवास।

(१५)

छीनते हो क्षण-क्षण जीवन,
कौन तुम आते मृत्यु-चरण।
विवस से सुख के दिवस अजान,
सरस वे तन, मन, यौवन, प्राण,
गए सब, विफल सकल अनुमान,
शेष केवल सुधि का दंशन।

निखल यह जड़-जग जीव निकाय,
तुम्हारे दृग - पथ पर असहाय,
बिछ रहे दीर्ण - छिन्न हतकाय,
फैलता दिशि-दिशि प्रलय-ज्वलन!

(१६)

चल रहे सब मौन।
कुछ न कह पाते
कहाँ जाते, वहाँ वह कौन?

छन्द नव, आनन्द अभिनव,
कौन यह आह्वान नीरव,
श्रुत सतत, द्रुत बह रहे,
सब मौन- निष्ठुर मौन!

ज्योति में फिर तिमिर में स्थिर,
ज्ञान में अज्ञान में चिर,
प्रश्न शाश्वत कौन, पर,
उत्तर निरन्तर मौन।

(१७)

अर्थ ही क्या ?
दृष्टि की प्रिय तुष्टि
है, यह व्यर्थ ही क्या?

सृष्टि- पल-भर मिलन की अति क्षीण कारा-
छिन्न होती मृत्यु ने ज्यों ही निहारा,
तिमिर में बुझती दृगों की दीन तारा,
लीन जीवन, जन्म, जन-जन,
अर्थ ही क्या?

आह भरता है पवन असहाय वन-वन,
भीम उर में उदधि के भी व्याप्त कम्पन,
सूख जाते सुमन, है क्षयशील यौवन,
शोकमय सब ओक,
इसका अर्थ ही क्या?

(१८)

खोज न व्यर्थ बसेरा!
पंछी, इस वन में भटका तू,
बिसर गया घर तेरा!

यह तरु - वीरुध शूल - मूल सब,
यहाँ मिले फल - फूल किसे कब,
उड़ चल, निठुर नियति-वधिका ने
पग - पग जाल बिखेरा!

आया तू भ्रममय तम के मग,
पाया विषम- कर्म- संकुल जग,
श्रांत पंख, अब जीवन गति श्लथ,
निकट काल का फेरा!

(१६)

अलि, यही बेला!
अचिर यौवन मत करो,
इस भाँति अवहेला!

मानिनी, अब सजो तन - मन,
बजो, प्रिय - पथ पर मधुर -स्वन,
हठ तजो, नीरस करो मत,
सरस यह बेला!

जायगी, दिन चार पावस,
रहेगी, जीवन - अमा बस,
उठो, प्रियतम से मिलो-
अति निठुर अवहेला!

(२०)

आज स्वर भर सिहर पिक ने कुंज-वन में गान गाया!
सजनि, यह मधु - मास आया!

हँस रही कलिका विकल अलि का हुआ उर देश कंपित,
बह रहा परिमल - प्रपूरित पवन मंथर कामनाश्रित,
कुसुम किसलय, द्रुम, लता, वन में नवीन विकास आया!
प्रणय का मधु - मास आया!

देख, सरसीरुह - सरों में नील तारक- गगन बिंबित,
उतर आई कौमुदी लघु लहरियों पर चपल - चुंबित,
झर रहे केशर अरुण, हँस-हँस तरुण ऋतुराज आया!
सजनि, यह मधु - मास आया!

(२१)

बही नई बयार!
कह रही आया बसन्त,
बसन्त फिर इस बार!

तरुण प्राणों में पुलक नव,
प्रणय के, फैला पिकी रव,
ग्राम - उपवन में, जहाँ
घन मंजरित सहकार!

शस्य - बालों में रहे पल,
बीज, सर सरसीरुहोज्ज्वल,
कलित किसलय, खिल पलाश,
जला - जला पतझार!

(२२)

कब तक होगा सहना?
निराधार इस काल - स्रोत में,
क्षुद्र पोत सा बहना!

पाया नहीं विराम यहाँ रे,
बहते-ही-बहते हम हारे,
दूर सतत पादाश्रित जिनके,
स्थित होकर हो रहना!

क्या पहुँची न पुकार हमारी,
खोई शून्य मध्य पथ-हारी,
पर, अशून्य वह कौन धन्य,
निज ध्येय जहाँ ध्रुव लहना?

(२३)

अस्त रजनी!
उदित प्रिय, उषा-
आलोक अवनी!

खिले कल कमल-कुल,
खुले दिशि के मुकुल,
मुखर खग, चपल,
नव भाव - सरणी!

विकल शेफालिका,
गूँथ वर मालिका,
मसृणतर किरण-
के तार सजनी!

उठो खोलो नयन,
मुक्त छवि के अयन,
खे चलें, खे चलें,
आज तरणी!

(२४)

गए दिवस पार कर दिवाकर,
तमिस्र - आरक्त रे! दिशा- दल,
उड़ी प्रभा की परी गगन-पथ,
रहा मलिन, निःस्व विश्व-उत्पल!

अचेत वह चेतना गई बह,
प्रसुप्ति से प्रीत कर्म- जीवन,
अशब्द उद्‌बोध दे रही जल,
प्रदीप की क्षीण दीप्ति निश्चल!

इसी समय दूरतर क्षितिज पर-
उदित, खड़ी खोल नैश-कारा,
खुले अलक, ज्योति के अपल दृग,
सहास शशि, हो तुम्हीं सहारा!

(२५)

आये, खंजन री!
शरद - सुन्दरी की चितवन - से,
मंजुल रंजन री!

ये सजीव राजीव विकल - दल,
सुषमा की परियों से चंचल,
भरते उर - उर में नूपुर - कल,
सुख-स्वर शिंजन री!

श्यामल - शुभ्र सपक्ष खंड- घन,
शशि के शिशु, निशि के तारक-धन,
मेरे जीवन के पावन क्षण,
प्राप्त निरंजन री!

(२६)

हेमंत हँसा!
पल्लव - पल्लव में लसा पुलक,
सिहरी री, शस्यांचला रसा!

बिखरा आतप का रुचिर हेम,
निखरा तन, ऊर्जित तरुण प्रेम,
अलकों के कोमल बन्धन में,
शुचि सद्य-स्मित सित कुन्द लसा!

नीहार - अन्ध कर गगन पार,
आया प्रिय, डोल उठी बयार,
आनन्द - तरंगित अंग- अंग,
वह आलिंगन में गया कसा!

(२७)

रह–रह कह जाती!
'प्रिय–पथ पर अहरह बह–बह,
अन्त मैं न पाती।'
'लिए मधु–सुरभि, हिमकण,
पूछ लता - तरु अगणन,
खोज दिशाएँ निर्धन,
लौट विकल आती।'

वन - वन में निःसहाय,
करती फिर हाय - हाय,
भ्रान्त, श्रान्त, क्लान्त–काय,
दह - दह दुख पाती।'

सार्थक श्रम, सहोपवन,
विरह तुम्हारा अमरण,
अगति आह, यह जीवन,
मैं भी गति पाती!

(२८)

बरसो - बरसो पावस!

घिरे तिमिर, घिरे, घिरे बादल,
मुझे सुखद चपला का कौशल,
भीता कुछ रहे कंठ - लग्न,
प्रिया स्पर्श विवश!

सींच विरह और जलाया तन,
गत वह, अब मिलन-मधुर जीवन,
करो अधिक मधुर, हँसो-
कण - कण में रस-रस!

(२६)

फिर आए री, बादल।

चपला के संग नए,
घेर गगन ये उनए,
रस के निर्झर झरते,
मन्द मन्दतर अविरल!

सुख स्पर्श अन्धकार,
फैला दिशि-दिशि अपार,
झिलता उर का न भार,
प्राण पवन-से चंचल!

(३०)

रे वक्र शक्र - धनु भृकुटि तान,
यह कौन बरसाता वारि - बाण,

उर्वी के उर पर बार - बार,
होता रह - रह वज्र - प्रहार,
धर्षित मरु, सर, सागर अपार,
माँगते सकल भय विकल त्राण,

सन-सन-सन-स्वन बहता समीर,
प्रिय-तरु-उर पर लतिका अधीर,
प्लावित सरिता के युगल तीर,
पर नर्तित मुक्त मयूर - प्राण।
यह किसका पौरुष उठा जाग,
छेड़ा किसने प्लुत सिन्धु -राग,
शत-शत सरोष तम-काल-नाग-
दंशित उडु-शशि-रवि गत -ज्ञान।

(३१)

विरही वन - वन में,
वर्ण - विविध जीवन - निधि,
उतरी वह घन में।

कोमल तन मलय - वास,
दामिनी - विलास हास,
तिमिर तरुण केश-पाश,
खुले, खड़ी मन में।

लहरे सरि, सर, सागर,
कुसुम, लता, द्रुम थर-थर,
छवि के सम्मोहन भर,
कंपन कण - कण में।

पहन मंजु मुकुल - माल,
नाचतीं कदम्ब - डाल,
गा रही पिकी रसाल,
ताल - गति पवन में।

(३२)

पावस समीर बहती हर-हर!
डोले तरु डोलीं लता लोल-
उर के सब मधुर रहस्य खोल,
काँपती निभृत निज शयनों पर,
कामिनियाँ कृश-तन-थर-थर-थर!

घिरते घन, तिरते नील गगन,
चपला से आलिंगित क्षण-क्षण,
आमों की पीली डाली पर,
गाती कुछ कोकिल कोमल-स्वर!

शीतल रे, शीतल सुख -स्पर्श,
चंचल शस्यांचल, विपुल हर्ष-
भरती, जो झरती मधु-सीकर,
उतरी वह कौन परी सुन्दर?

(३३)

लुट रहा हास,
रे पके सुनहले खेतों में,
लुट रहा हास!

नीली ओढ़नी सम्हाल सुघर,
गाँव की बधू कुछ हलके कर,
काटती खेत, हँसिया सर-सर,
चूड़ियाँ रन-रन, तिरती मिठास!

खलिहान बसे, गार पर गार,
गेरे, घेरे सब बाग - हार,
भुरहरी रात, पछुवा बयार,
बहती महुए की लिए बास!

(३४)

मुझे निज वेदना का बल है।

बिछाईं पंथ में मैंने तुम्हारे दीन जो आँखें,
बहीं वे, आँसुओं में बह गईं सब क्षीण अभिलाषें,
विकल मन-मीन को जल-हीन जग में कौन संबल है।

तिमिर में घिर, शिशिर की यामिनी में काँपती थर-थर,
लिए स्मृति-दीप बढ़ती जा रही रे लीन, सृति दुष्कर,
मिलन के प्रात तक झिल जाय, जीवन हाय! गत बल है।

(३५)

अब तो करो पार!
फिर-फिर विकल-क्लांत तुमको पुकारा,
विश्वास था देव, दोगे सहारा,
बहता थका, दूर अब भी किनारा,
संबल विगत, और दुस्तर तिमिर-धार!

वे पांथ, जो साथ में थे हमारे,
संघात के वात में भ्रांत हारे,
खोते गए शून्य में बन्द तारे,
मैं ही रहा आज, दुर्वह व्यथा-भार!

(३६)

खोजूँ किसे और?
मातः, चरण में शरण दो!
वहीं ठौर!

बहते तमोमूढ़ मेरे दिवा - रात,
दिग्भ्रांत मैं दूर का पांथ श्लथ-गात,
कंटक मिले, शत झिले घोर आघात,
अब भी कृपा का छिपाया कहाँ भोर?

उतरो हृदय -पद्म पर तुम किरण-कांत,
ज्योतिः शरण प्रति चरण छिन्न हो ध्वांत,
मेरे ज्वलित शाप - संताप हों शांत,
कोई नहीं और, खोजूँ कहाँ ठौर?

(३७)

रे, खोया मैं जीवन-वन में!
उमड़ी दिशि दिशि घन-तिमिर धार,
डूबे धरणी, नभ निराधार,
भ्रम-भ्रम-क्लम-दुख-कंटक अपार,
अवसाद गहनतम कण-कण में।

चिर - ज्योतिर्मय आत्मा प्रबुद्ध,
भूला मैं वह चेतना शुद्ध,
जन्म में, मरण में रह निरुद्ध,
सहता अब मोह लीन तन में।

(३८)

तुम्हें बाँध बाहों में!
डुबा दिया मैंने बरसों की-
विरह - बढ़ी आहों में!

शत-शत अश्रु -तरल भर चुंबन,
दे अपना चिर-प्रणय-विकल मन,
सुमन तुम्हें पाया जीवन की-
कंटकमय राहों में!

बीता अब रीता अतीत वह,
सुन प्रिय, तेरा मिलन-गीत यह,
सोए दुख के दिवस, जगेंगी-
रातें स्थिर चाहों में!

(३६)

आते जो, वे मिटते जाते,
पद-चिन्ह भी नहीं रह पाते!

जीवन यौवन की प्रबल धार
सूखती अचानक बार-बार,
है काल-व्याल चिर-दुर्निवार,
विष- दंश न कोई सह पाते!

आकाश चूमते सौध शिखर,
अतलान्त - असीम महासागर,
ऋतु, अयन, वर्ष, युग के पथ चल,
निरुपाय शून्य में खो जाते!

(४०)

बहा और सहा!
निस्वः मैं, बस विश्व में
विश्वास तेरा रहा!

कुलिश- कठिन प्रहार,
मिले जीवन में मुझे,
प्रतिचरण बारम्बार,
'इष्ट जो तेरा, वही अति मिष्ट'
यही कहा!

आज एकाकी,
खोज हारा सब,
सहारा अब नहीं बाकी,
लो, गहो कर,
अन्यथा मैं भूल से भी ढहा!

(४१)

चढ़ती दुपहर,
बह जाता कभी पवन हर-हर!

बजरी, जुवार, ईख के खेत,
पकते, झुकते, कुस -कास सेत,
गोमती तीर चमकती रेत,
हँसती सुनहली धूप ऊपर!

बड़ के टीले पर है मेला,
कतकी का, ले पैसा-धेला,
पुण्य के पण्य में इस बेला,
समवेत ग्राम के नारी - नर!

(४२)

मिला यह वरदान!
वेदना के तुषानल में,
जलें अविरत प्राण!

नियति के निष्ठुर, प्रखरतर-
बेध दें, तन, व्याधि के शर,
अश्रु - प्लावित बहे जीवन,
चिर -विपथ जलयान।

दग्ध आशा का कमल-वन,
चेतना- गत स्तब्ध तन-मन,
ध्येय हो अज्ञेय, संचित-
ज्ञान हो अज्ञान!

(४३)

मधु-ऋतु की मधुर विहान, प्रिये!
आओ परिचित मुस्कान प्रिये!

उपवन, वन, विटपी, तरु विशाल,
सब शिशिर-शुष्क, गत-पत्र-डाल,
पहनें अब सौरभ सुमन - माल,
लौटे फिर भूला गान, प्रिये!

दुख-कृश जग को कर रहा जीर्ण,
झंझाहत झोंकों से विशीर्ण,
उस हित को कर उर-उपल-दीर्ण,
उतरो किरणों की बान, प्रिये!

(४४)

प्रिय, तेरे पथ पर बही-बही!
मैं विपथ रही, चिर व्यथा सही!

गिन-गिन जीवन की श्वास-श्वास,
अब निष्क्रिय बन, बैठी उदास,
निरुपाय, दीन, कोई न पास,
अवलंब तुम्हारा नाम यही!

नैराश्य - निशा में उषा - चरण,
आओ - आओ, प्रिय, करो वरण,
कब से पुकारती शरण, शरण,
आशा की रेख न शेष रही!

(४५)

तुम छेड़ रहे यों बार - बार
मेरी तंत्री के शिथिल तार!

इनमें गायन या तान कहाँ?
जड़ में चैतन्य विधान कहाँ?
फिर भी अविरत आह्वान यहाँ,
वादक, तेरी क्रीड़ा अपार!

तेरी उँगली के चपल स्पर्श,
मेरे पीड़ा, सुख, शोक, हर्ष,
रे मीड़ों में अपकर्ष - कर्ष-
अविनश्वर का नश्वर विहार!

(४६)

लाज लिपटी रे, लटपट चरण,
रणन-रण नूपुर कहते -शरण।

शरद-ज्योत्स्ना शुचि-रुचि सुकुमार,
सहज सुषमा के अम्बर धार,
विकल अति आभूषण के भार,
धरा पर मृदु करती विचरण।

नमित युग लोचन, कान्त कपोल,
व्यालिनी -वेणी, भ्रू -मुख, लोल,
कपोती - ग्रीवा, मीठे बोल-
गीति - मधु अमरण, भाव वरण!

(४७)

तुम मेरे, हम तेरे!
विस्मृत बहे-बहे रे!

हृदय रत्न, अब बहुत यत्न कर,
तुम्हें सहेज लिया अपने उर,
रहो, छेड़ सुख के दुख के स्वर,
पूजूँ साँझ - सबेरे!

नयनों की पुतली में पावन,
मूर्ति तुम्हारी धौत अश्रु-कण,
निरखूँ जीवन के प्रति पल-क्षण,
डूबें भव के घेरे!

(४८)

रे, सुख के दुख के चपल चरण–
आते, जाते नित, जीवन - धन!

मेरी जड़ता पर बार - बार,
हँस–हँस करते निर्मम प्रहार,
आशा–काँक्षाओं में अपार,
मृदु - मधु–स्पंदित करते नर्तन!

वासना, तृप्ति, अज्ञान, ज्ञान,
साफल्य –विफल, सायं विहान,
हँसते क्षण–भर ऋतुपति सुजान,
फिर वही आँसुओं के सावन!

(४६)

चल अचपल पल-पल चितवन,
मधुर जीवन रे, मधुर मरण!

निखिल तू, तेरा निखिल निवास,
प्रभा - तन पीन वास - आकाश,
सूर्य- शशि - तारक - सूचित हास,
लास जग का षड् ऋतु - दर्शन!

इसी छवि - छाया में अम्लान,
खेलते, खुलते मेरे गान,
ध्यान में अवसित ज्ञानाज्ञान,
वही चिर जागृति, वही शयन!

(५०)

मुँद गए दिवस के विवश लोचन - नलिन,
रख रही कौन पद मन्द अति मन्द गिन!

लाज - तम - संवृता,
नयन, मुख, तनु - लता,
जग रही तारिका-
दन्त - मुक्ता - किरण!

मौन की मानिनी,
विश्व उर - स्वामिनी,
भर रही सहज सुख-
स्पर्श मंजुल मसृण!

(५१)

अन्तस्तल में पैठी!

अचपल दृग राग - गहन,
खिंची क्षीण भ्रू, शोभन,
बँधी, घूम कुटिल अलक,
वेणी उर पर ऐंठी!

सुगठित रक्ताभ - अंग,
आनन सस्मित, सुरंग,
चित्रित घन - पट्टवास-
छवि मन में स्थिर बैठी!

(५२)

तेरा नाम, तेरा ध्यान,
मेरी गीति, मेरा ज्ञान!

तुझको खोजता सर्वत्र,
पहुँचा मैं न तू है यत्र,
लिख-लिख आँसुओं के पत्र,
हैं अति विकल, विथकित प्राण!

प्रिय, अब सहा न जाता मौन,
सोचो देव, अपना कौन,
मेरा जगत भ्रम -तम-पूर्ण,
आओ, अमर स्वर्ण विहान!

(५३)

दे रहे मधु- दान अलि, घन!
अति - हीन, असीम नभ में,
बढ़ उमड़ आकुल यथा मन!

विकल उर्वी के उरोरुह,
स्पर्श भर, पाते न सुख सह,
सिहरते आकंप रह - रह,
बह रहा मंथर समीरण!

खोल चपला के विलोचन,
हेरते ये चपल क्षण - क्षण,
विपुल कंठों से मधुर स्वन,
फूट पड़ते गान अमरण!

देख, सरि - सर का महोत्सव,
शिखी, पिक का नृत्य-रव-नव-
व्याप्त पर मुझ में विरह -दव,
दूर वे मेरे हृदय - धन!

(५४)

बीते रे, दिन बीते!
जीवन - शतदल के सब पल-दल,
सुख - सौरभ से रीते!

मुकुलित, पुलक प्रकंपित नव तन,
वह क्रीड़न, पीड़न, आलिंगन,
सरल विनोद - प्रमोद-मधुर मन,
स्वप्न - स्मृति- दिन बीते!

सूखी सुषमा - सुधा - तरंगिणि,
किस अतीत - शय्या पर रंगिणि,
सोईं फेर नयन, प्रिय -संगिनि,
शैशव - श्री, सुप्रीते!

खोया तुम्हें कर्म - श्रम पाया,
अहरह क्लांति अक्लांत कमाया,
क्षीण हो रही माया - काया,
अब विषाद - विष पीते!

(५५)

मिला जीवन, बन परिपूरण,
सकल लहराए री, तन-मन।

आई कनक-कलित, छवि - आकृति,
मंद, मंद अति मंद मलय गति,
बजा मंजु मंजीर, विपुल रति,
भ्रमरों का गुंजन।

मिली मधुर कर - किरण बढ़ाकर,
स्रस्त, शिथिल ज्योत्स्ना का अम्बर,
भरे, मुग्ध किसलय - अधरों पर,
मुकुलों के चुंबन।

बार - बार सहकार - अंक पर,
अर्द्ध-शयित गाती पिक - स्वर भर,
सकुच- सिहर, अग-जग का उर हर,
गूँज रहा मधु स्वन।

(५६)

मानव - दंशित मानव,
रे, जग जीवन रौरव!

तृष्णा पर ज्ञान विफल,
पलते क्षयकर कौशल,
निश्चेतन जन जल, जल,
वृद्धिगत धन का दव!

अवनी के आर्त स्वर,
वेध ये गए नभ-उर,
सहते दुःसह दुष्कर,
फिर भी तुम चिर - नीरव!

(५७)

असफल सफल करो
हरो, श्रम - ताप हरो।

तम से हो प्रकाश का परिचय,
असत ध्वस्त, हो सत्य का उदय,
मृत्यु जाय, जय जीवन की जय,
बहु भव - विभव भरो।

भ्रम क्लम के पावस का प्लावन,
तरो तूर्ण, निर्भय हों तन- मन,
सुख -सुरधनु रँगती आशा -घन,
वरद शरद विहरो।

(५८)

आई यह शारद शुभ्र रात!
विधु-मुख-सुख हास-प्रकाश-पूर्ण
तारा - हारावलि-रम्य गात!

नील नव नभ के मुक्त - केश,
अपलक ज्योतिर्दृग भाव-शेष,
विकसित वन-यौवन, गंध-वेष,
प्रवहित श्वासों में मलय-वात।

उर-उर की जड़-चेतना छीन,
किरणांशुक में वह खड़ी लीन,
चिर सुन्दर रे, वह चिर नवीन,
लाएगी जागृति, स्वर्ण-प्रात।

(५६)

श्यामल, कोमल, चंचल अलकें,
इनमें बँध बिंध, खो सब सुध-बुध,
बन जाती हैं अचपल पलकें।

आनन - सरोज पर तर निर्भर,
अलि-कुंज- सी आकुल तृष्णा- सर,
छवि-दिन मुख पर सुख-सांध्य-प्रहर-
लख उर की मधु-रस-निधि छलकें।

ये व्रज - बालाएँ मद विह्वल,
मोहन मुख घेर रहीं निश्चल,
सुषमा की यमुना में प्रतिपल,
रलमल बहु - भाव - भरी झलकें।

(६०)

तुम हो, फिर यह व्यथा रहे क्यों?

द्वेष दंभ-दुख-द्रोह-मोह पर,
भेद-क्लेद-संताप-पाप-ज्वर,
जलना जग-जीवन सचराचर,
करुणामय, भव-भय न बहे क्यों?

खुलें करुण तव नयन अमृतमय,
गत हो मृत्यु- भीति, मृत्युंजय,
विश्वरूप हे, अनघ, अनामय,
तुममें तम, जन भ्रांति सहे क्यों?

(६१)

सब ओर तुम्हें चित्रित देखा,
पर, सतत अचित्रित ही लेखा।

छाया तन की घन सहज श्याम,
आनन- सा शशि नयनाभिराम,
लोचन ये इन्दीवर प्रकाम,
स्मिति मृदु चपला की चल लेखा।

पाई पल्लव ने कोमलता,
कुसुमों में लिखती हास लता,
नभ में वह निर्मल व्यापकता,
केशों से निशा असित - वेशा!

रव सुन कंठीरव, पिक, कपोत,
गाते, बहता नित रस - स्रोत,
रे, अस्थिर कवि-उर भाव-पोत,
वह अकल - कला स्मृति निःशेषा!

(६२)

तड़ित की चकित दृष्टि से लख धरा को,
पवन-पंख में ले प्रणय की त्वरा को,
किया स्नेह से सिक्त मिलनातुरा को,
गए बस प्रिया के नयन और मन में!
घनों ने नए राग छेड़े गगन में।

शिखी ने चपल नृत्य पद -चार पाए,
प्रमीला पिकी ने मुदित गान गाए,
व्यथा चातकी की न छिपती छिपाए,
विरह प्राण में, ध्यान है प्राणधन में,
घनों ने नए राग छेड़े गगन में।

पड़े सरि-सरों के मिलन स्वर सुनाई,
गमक केतकी- गन्ध की चारु छाई,
दिशायें सजल श्यामता में नहाईं,
विभा भर गई है दिवा के अयन में!
घनों ने नए राग छेड़े गगन में।

(६३)

देखो, प्रिय! गृह के आँगन में,
फैली शारद ज्योत्स्ना अमन्द!

खुल रही रस-विकल शेफाली,
फूटते सुरभि के विपुल छन्द!
आनन्दमयी यह निशा अचिर,
सोकर खोओ मत इसे प्राण!
आओ इस कुसुमित उपवन में,
गाएँ हम आमरण मिलन-गान!

(६४)

पल रहे प्रति वृन्त पर पतझार और वसन्त!
यह शिशिर का अन्त!

पत्रहीन मधूक सूनी डाल,
फूल को फल को रही है पाल,
खड़ा पीपल किए ऊँचा भाल,
प्रज्ज्वलित किसलय -कदम्ब अनन्त!

पीत-पत्रों के शयन पर आज,
ले रहा अँगड़ाइयाँ ऋतुराज,
मुखर शुक, नर्तित मयूर समाज,
विकल यौवन, सुरभि-शिथिल दिगन्त!
यह शिशिर का अन्त!

(६५)

आया री! अषाढ़ फिर आया!
बादल के उर में धरती की-
सुधि का तीर समाया!

अम्बर से उतरी पुरवाई,
प्रिय का सन्देशा ले धाई,
मिलन - मोद से भरी,
धरा ने कंचुक हरित सजाया!

विचर रहे गिरि-शिखर गगन में,
चपला से चुम्बित क्षण-क्षण में,
मिलन दिवस के उर में निशि का-
स्वप्न सघन बन छाया!

जागे सुप्त गीत अन्तर के,
बहे प्रखर हो निर्झर स्वर के,
घट के संपुट में अकूल हो,
प्रणय - सिन्धु लहराया!

(६६)

देखो चतुर्दिक
प्रलय की जगी आग!
छेड़ो न यह राग!

प्रिय, कण्ठ की माधुरी यों न ढालो,
मुख की मुखर भंगिमा तो सम्हालो,
मृदु हास की चाँदनी अब छिपा लो,
मुझसे झिलेगा तुम्हारा न अनुराग!

सौरभ-विकल कलि-कुसुम द्रुम-लता श्रांत,
रवि, चन्द्र, उडु-वृन्द, सब क्षुब्ध दिग्भ्रांत,
मूर्च्छित धरा है, प्रकंपित पवन -प्रान्त,
स्वर की शिखा से हृदय जल उठा जाग।
छेड़ो न यह राग।

(६७)

शुक-पिक-चातक के गीतों में, फिर गूँज उठा स्वरमय बसंत,
पल्लव-पल्लव पर डोल उठा, हिल्लोल भरा स्मितिमय बसंत।

खुलती कलियों के प्याले से, मधु ढाल रहा मधुमय बसंत,
मलयज की मृदुल हिलोरों पर, आया यह सौरभमय बसंत।

x x x x

लो, मानवती के अधरों पर, पाटल का कोमल हास खिला,
अपने उपवन के मर्मर में, कवि को फिर भूला गान मिला।

(६८)

मिलेगा किनारा, मिलेगा किनारा!
बहो तो, बढ़ो तो, मिलेगा किनारा!

समीरण तुम्हें सिध्दि का पथ दिखाता,
स्वयं सिन्धु पद चूमकर मोद पाता,
मधुर रागिनी के स्वरों में बुलाता,
निरंतर उधर ध्येय का ध्रुव तुम्हारा!
बहो तो, बढ़ो तो, मिलेगा किराना!!

तिमिर चीरती वह किरण आ रही है,
उषा व्योम में मन्द मुसका रही है,
तुम्हारी तरी तैरती जा रही है,
उठो, बंधनों की करो भंग कारा!
बहो तो, बढ़ो तो, मिलेगा किनारा!!

(६६)

पाया स्नेह न कभी तुम्हारा,
नयनों के जल में पलना है-
जीवन - दीप हमारा!

मैं उकसाता हूँ रह- रह कर, सुधि की गीली बाती,
किन्तु तुम्हारी निठुर फूँक से काँप- काँप रह जाती,
मिली न अंचल-ओट, न कर का कोमल करुण सहारा!

पता नहीं क्यों रज बटोर कर तुमने इसे सजाया?
फिर कब इस धारा में निर्मम तुमने इसे बहाया?
विषम तरंगों में ठुकराया, जहाँ न कूल - किनारा!

महाशून्य में रही जागरित दीपक की लघुता ज्वाला,
तिमिर ओक में बिखर गई बन किरणों की जयमाला,
है निर्वाण समीप, भय नहीं टूट गई यह कारा!

(७०)

तिमिहर चरण-तल विश्व नत मुग्ध -सा,
मुकुलिता हास-से हँस रही प्रति -दिशा!
हंस-से जलद -शिशु बाहु के पाश में,
बाँध, उच्छ्वसित नव प्रणय के लास में,
उड़ा उडुचय विलोड़न- विकल बुन्द से,
ज्वलित सित किरण -कौशेय में आवृता,
सहज निज लोल लावण्य लीलारता!
व्याप्त सर्वत्र स्वर की अश्रुत माधुरी,
कौन तुम सुन्दरी?
खुल रही विकच कच-भार-सी नीलिमा,
खिल रही चन्द्रमुख की शरद पूर्णिमा,
रच रही पीन उर - हार शेफालिका,
बह रहा पवन निःश्वास मधु का छका!
देह की सुरभि पा नैश गन्धा जगी,
यामिनी निखिल-द्युति दामिनी ज्यों रँगी।
देख दृग मोदमय कुमुद विकसे लसे,
कलि-कुसुम-वृन्त से खसे रस विवस से,
अये, किस जलज की मत्त तुम मधुकरी!
कहो, कुछ सुन्दरी?
कौन तुम सुन्दरी?

(७१)

निराशा की अमा में पूर्णिमा के गीत गाता चल!
किरण का तीर बनकर तोड़ती है यह तिमिर कारा,
बहानी है निखिल मरु में अमर आनन्द की धारा!
अटल विश्वास के स्वर में विजय के गीत गाता चल!

उड़ा दे संकटों के मेघ बढ़कर चढ़ समीरण पर,
उठा इस सुप्ति में शत चेतना की ऊर्मियाँ द्रुततर!
ज्वलित अंगार के पथ पर विजय के गीत गाता चल!

मुकुल सी खिल उठे मुस्कान सूखे विरस अधरों पर,
उरों की बीन में भर दे नई झंकार अविनश्वर!
निशित असि-धार पर क्षण-क्षण विजय के गीत गाता चल!

जगा दे कोटि कण्ठों में तड़ित की उच्छ्वसित भाषा,
रँगे बलिदान से तेरे उषा के हास की आशा!
पराभव को कुचल कर वर विजय के गीत गाता चल!

(७२)

उठा लो नई तूलिका आज आओ,
नई भित्ति पर चित्र नूतन बनाओ!

नए कण्ठ से फिर नए गान गाओ,
नई ज्योति बन लोचनों में समाओ!

जगाओ नई चेतना श्रांत मन में,
उषा बन हँसो फिर निराशा-गगन में!

तुम्हारी किरण से तरुण-कंज फूलें,
नए अलि नए कलि-कुसुम चूम भूलें!

नए भाव की ले सुरभि नव समीरण,
बहे हो प्रणय-बीचिमय विश्व-जीवन!

नई काकली बन खिलो कुंजवन में,
नई दामिनी-सी जगो रूप -घन में!

बसो विधु-विमल सिंधु की कल्पना में,
बरसती रहो रस धरा निर्धना में!

नए नूपुरों में नए स्वर सजाओ,
चरण प्रति चरण छंद नूतन जमाओ!

(७३)

बहा अलि, विषम वसंत -समीर!

वेदना से चंचल मन - प्राण,
दृगों में अस्थिर अश्रु अजान,
किसी की सुधि से चल चुपचाप-
बिंध गये मंजरियों के तीर!

खुला किंशुक के उर का घाव,
गया कोकिल का दूर-दुराव,
उठी कलियों के उर से काँप-

मुग्ध - सी सौरभ अन्ध अधीर!
बहा, अलि विषम बसंत समीर!

(७४)

नया प्रभात आ रहा,
उठो, प्रभात आ रहा!

गई, चली गई तिमिरमयी निशा दशानना,
खुली उषा अवनि-सुता ज्वलंत पावकासना,
स्वदेश का अतीत ही भविष्य ब्याज छा रहा!
उठो, प्रभात आ रहा!

पढ़ो अमोघ सिद्धि -मंत्र आज आंजनेय -से,
विरक्ति छोड़कर सभी भरत उठें अजेय-से,
समीप राम -राज्य का प्रकाश-पुंज भा रहा!
नया प्रभात आ रहा!

उठो, अशेष ओज-तेज की बिखर रहीं किरण,
लखो, हिमाद्रि ने इन्हें किरीट-सा किया वरण,
खिले हृदय-सरोज व्योम-भृंग कीर्ति गा रहा,
नया प्रभात आ रहा!

प्रशस्त ध्येय पंथ है, न अब कभी डिगें चरण,
करो अगस्त्य से असंख्य विघ्न-सिंधु का तरण,
उठो, उठो, उठो विजय-पटह तुम्हें जगा रहा!
नया प्रभात आ रहा!

(७५)

खेलो आज प्राण की होली!
हिमगिरि से उन्नत ललाट पर वर लो बन्धु,
विजय की रोली!
जगने दो बसंत की ज्वाला,
केशरिया तन, मन मतवाला,
छक सर्वस्व-त्याग की हाला,
भर लो अमर कीर्ति से झोली!
चलो ब्रह्मशर से निषंग से,
बढ़ो ध्येय-पथ पर उमंग से,
फैला रंगों की तरंग से।
सुन जयनाद धरा हो डोली!
करो नवल विक्रम का साका,
उड़े गगन चुम्बिनी पताका,
खिले राष्ट्र-जीवन की राका,
जिससे जाय चाँदनी तोली!
ले कर सुमनों की पिचकारी,
सुरभि-गुलाल-राशि सुखकारी,
गैरिक, पिंग, अरुण, सुवर्ण की-
निधियाँ विपुल प्रकृति ने खोली!
वर लो बन्धु! विजय की रोली!

(७६)

तोड़ कर अपने बन्धन शेष,
बढ़ चले विजय पंथ पर देश!
लिये प्रेरक अतीत का ध्यान,
कर रहे हम हैं यह अभिमान,
ध्येय को अर्पित तन, मन, प्राण,
सजा है केशरिया वर वेश!
आज अनुशासन की स्वर-धार,
कर रही प्लावित उर के तार,
उठी युग-जागृति की झंकार,
भरा प्राणों में पुण्यावेश!
सत्य का गगनचुंबि ध्वज साज,
धर्म रथ पर हों शोभित आज,
हमारे नेता - मूर्त विराज-
साधना का धन लिए अशेष!
एक यह गगन, धरा यह एक,
एक संस्कृति का उदित विवेक,
अटल भारती प्रजा की टेक,
गूँजता रह-रह यह संदेश!
प्रलय में पले हुए रणधीर,
चलें हम आगत का तम चीर,
नयी निर्मिति के लिए अधीर,
करों में है भावी के केश!

(७७)

मैं किनारा हूँ सदा तुम सिंधु मेरे,
ज्वार से रहते लगाते नित्य फेरे।

मुझे पहना कर अनन्त तरंग माला,
शान्त करते हो हृदय की दीप्त ज्वाला,

छोड़कर जाते कभी पर दूर इतने,
रेत से हैं प्राण नपते विकल कितने।

तब मुझे मझधार से रह-रह बुलाते,
मेघ मंद्र अतंद्र मादक गीत-गाते।

भूल जाते हो कि मैं केवल किनारा,
निज तरंगों से जिसे तुमने सँवारा।

इसलिए आओ, रहो प्लावित निरंतर,
यह किनारा ही बने अब उदधि निर्भर।

(७८)

प्राण तुम हो टेक मेरी इस व्यथा की,
और परिणति चरम जीवन की कथा की।

निकट ही पर दूर तुम से मैं रहा यों,
सरित के दो कूल रहते हों सदा ज्यों।

वेदना का सिन्धु था प्लावित निरंतर,
किन्तु अब तक हाय मिट पाया न अंतर।

प्राण बड़वानल स्वयं अपने लिये मैं,
विषम हालाहल सदा फिरता पिये मैं।

शेष हूँ निःशेष पर विश्वास मेरा,
निकट है आश्लेष का मधुमय सवेरा।

प्राण के कलकंज पर आकर खिलोगे,
मैं न हूँगा, तभी तो तुम मिलोगे।

(७६)

लीन सब तेरे चरण में।
खिल रहे हैं निखिल श्वासोच्छ्वास करुणा की किरण में।
हँस रहे हैं शस्य-श्यामल नील - निर्मल अवनि - अम्बर,
छा रहे हैं अखिल प्राणों में प्रणय के स्वर अनश्वर,
खो रहे हैं भेद जीवन - मरण तेरी ही शरण में।

बीज, मूल, स्कन्ध, शाखा, पर्ण, पुष्प, सुरंग शत फल,
संसरण की ब्रतति में यह प्रतति तेरी ही रही पल,
हो रहे हैं शेष सकल अशेष तेरे ही वरण में।

खोजता था मैं यहाँ कब का व्यथित भूला अकेला,
तरी जर्जर, पथ अपरिचित, चिर तिमिरमय विषम बेला,
मिल गया सहसा सदय अवलम्ब तेरा संतरण में।

नाम-रूपों के तुमुल उद्घोष के उस पार क्षण-क्षण,
सुन रहा हूँ आज तेरा अमृतवर्षी ज्योति - निःस्वन,
छिप सकेगा अब न और विराट्! उर के आवरण में।

(८०)

नव वसन्त- विलासिनी हे!
कलि-कुसुम-किसलय-लता-द्रुम-सुरभि-सद्म-निवासिनी हे!

रूप की तुम जगो ज्वाला,
पहन यौवन किरणमाला,
स्नेह की सरिता विशाला,
बहो कल- कल - हासिनी हे!

करो चित-प्लावित दिशायें,
विगत हों भ्रम की निशायें,
पढ़ों मंगल की ऋचायें,
अब रही न प्रवासिनी हे!

(८१)

ढुलकाती आई उषा आज रस की गगरी,
मधु की गगरी।

फागुन की छवि तन, मन, वन उपवन में उतरी।
दहके पलाश, लहके मंजरित आम्रकानन,
शत - शत छन्दों में मुखर हुआ जग का यौवन,
कुंदों में खिल-खिल उठी पिकी की स्वर लहरी।

पछुए के झोंकों में झरते हैं शीर्ण पर्ण,
है, लुटा रहा धरती पर अंबर निज सुवर्ण,
पर पीत शस्य का गात, व्यथा कैसी गहरी!

(८२)

खोल रुद्ध गवाक्ष आते हो स्वयं यों,
तिमिर के उर में उतरती है किरण ज्यों।

रेणु ज्योतिर्वेणु बन नव गीत गाती,
सुप्ति में सुधि जागरण की लौट आती।

देखता हूँ स्वप्न-आये प्रभा -रथ पर,
अरुण मुख, जलजात दृग सस्मित उषाधर।

व्योमकेश अशेष चितिघन से तरंगित,
वक्ष पर श्री वत्स - सी शशि-रेख अंकित।

पा प्रतनु पद - भार बनते सजल लोचन,
स्पर्श से होते पुलकयुत रोम क्षण-क्षण।

x x x x x

पूर्व जागृति के अचानक लौटते क्यों?
तिमिर भर कर लौटती सायं किरण ज्यों!

(८३)

पुतलियों में श्यामता बन तुम समाये,
आज तो घनश्याम ही घनश्याम छाये।

बरसती है सघन रस की धार रह-रह,
भीगती हूँ, खुले मेरे द्वार सब यह।

ढह चला है मूल से आवास मेरा,
मिट गये सब चित्र, है गहरा अन्धेरा।

प्रखर चौमुख पवन बहता है निरन्तर,
रुक न पाता हाय! कोई चीर तन पर!

x x x x x

अति विवश हूँ, सदय हो, आओ सम्हालो,
दो सहारा द्वार तक अपने बुला लो!

(८४)

आज दर्पण में न निज को देख पाती,
किस तरह अभिसार का संभार पाती?

मैं स्वयं बदली कि बदले अवनि-अम्बर,
भर रही है अगति-सी कैसी निरंतर।

प्राण का चातक हुआ है मौन सहसा,
रहा उलटा आज कोई पवन बहसा!

बन्द सभी गवाक्ष, भीतर आ रहे तुम,
क्या स्वयं अभिसारिका बन छा रहे तुम?

तो सुनो, यह दीन दर्पण तोड़ती हूँ,
बिन्दु को निज सिंधु में लो, छोड़ती हूँ।

(८५)

आज मैंने रात आँखों में बितायी,

पर न पग ध्वनि भी तुम्हारी दी सुनायी!
सुप्ति में तुम स्वप्न बन आये निरंतर,
जागरण में क्यों न मेरी याद आयी,
आज मैंने रात आँखों में बितायी!

सुप्ति मेरी, क्या वही जागृति तुम्हारी?
सुप्ति से वलयित सदा जागृति हमारी?
रात जो मेरी वही क्या दिन तुम्हारे?
और मेरे दिन तुम्हारी रात घेरे!
क्या इसी से प्राण ने निज निधि न पायी?
आज मैंने रात आँखों में बितायी,

कीर-सा यह प्राण अविरत रट लगाये,
चित्त का चातक तृषा का दव जलाये,
कह रहा है-'श्याम घन अब तक न आये।'
झलक भी मानस-शिखी ने वह न पायी,
आज मैंने रात आँखों में बितायी,

(८६)

निशा तिमिर के बाहुपाश में बँधकर सोई,
मेरे अन्तर में आहत शत सुधियाँ रोईं!

झलक रहे हैं दूर आँसुओं से कुछ तारे,
टूट-टूट गिर रहे विफल पल-पल बेचारे!

दग्ध हृदय का धूम या कि नीहार-भार है,
तप जीवन घन-सदृश बरसता बार-बार है!

पीड़ा की विद्युत के दवमय ज्योतित क्षण में,
देखा करता चित्र तुम्हारा उर के व्रण में!

रोम- रोम में कालकूट-सा विरह तुम्हारा,
जाग रहा है -अति दुर्गम अकूल यह धारा?

जन्म-मरण के सुप्रभात बनकर अब आओ!
रेणु-रेणु को अपनी मादक वेणु बनाओ!

(८७)

तेरे दीपक में स्नेह कहाँ?
है अर्द्धरात्रि,
तू कौन यात्रि!
बहता है सन-सन पवन यहाँ।

बुझ, बुझ तारे,
रवि - शशि सारे,
कहते- ‘‘जीवन ही मरण यहाँ।’’

ऐसे पथ पर,
साहस भर कर,
नाता है रे वह देश कहाँ?

(८८)

सुपक्व स्वर्ण शस्य से
दिगंत भूतिमान है!
प्रबुद्ध सख्य- चेतना,
रसार्द्र प्राण-प्राण है!

नहा उठी दिशा-दिशा,
नयी प्रकाश धार में;
निमज्जिता समष्टि आज-
है, विकास ज्वार में!

हिमाद्रि की पुकार पर,
हिमाद्रि बन बढ़े सभी,
अराति चीन-शीर्ष पर,
हिमाद्रि बन पड़े सभी!

स्वदेश हो प्रबुद्ध,
रक्तदान माँगने लगा,

अजेय प्राण-प्राण में,
वसन्त जागने लगा!

(८६)

युग - युग जलेगी
प्राण की यह होलिका
युग-युग जली, युग-युग जलेगी।
गहन तम-संकुल अमा में पूर्णिमा बनकर मिली यह,
शून्यता में रूप के शत इन्द्रधनु बनकर खिली यह,
मौन में कलरव-विकल उच्छ्वास के घन सी घुली यह,
स्तब्ध मरु में बढ़ उमड़ बन अश्रु का पावस चली यह,
विपुल जीवन- निर्झरी बन उपल के उर में पली यह,
ध्वंस में निर्माण की ज्वाला अमर युग-युग जलेगी!

विरस पतझड़ में यही कल कलि-कुसुम-किसलय-विलासी,
खिला करती नवल तरु-आश्लेष में पुलकित लता - सी,
सुरभि लपटों में यही अवसाद की जड़ता जलाकर,
भ्रमर का गुंजन, पिकी को दान करती है मधुर स्वर,
खींच लाती सुप्त सुषमा - राजहंसी को धरा पर,
यह असुन्दर को, अशिव को क्षार कर युग-युग जलेगी।

उषा हँस, हँसकर इसे प्रतिदिन किरण कुंकुम चढ़ाती,
सांध्य श्री नव-नव इसी पर वर्ण की निधियाँ लुटाती,
नखत अक्षत ले, सजा कर चाँदनी का चारु चन्दन,

कलित किरण-पराग ले करता निशाकर नित्य वन्दन,
हैं, सजाते भूमि, नभ, जल, पवन इसके शीश रोली,
रूप, रस, मधु गंध की ज्वाला यहाँ युग-युग जलेगी!

काल के उर के उदधि में ज्वलित वाडव-दाह भीमा,
हैं, बनाती वर्ष, ऋतु, युग, कल्प सबकी सहज सीमा,
प्रज्ज्वलित लपटें इसी की सृष्टि की क्रीड़ा रचातीं,
रूप फिर खोतीं इसी में पिघल पारद-सी दिशाएँ,
प्रकृति पढ़ती है निरंतर कीर्ति की इसकी ऋचाएँ,
यह अमिट अस्तित्व की लीला यहाँ युग-युग चलेगी!

(९०)

रस पोषित कोकिल के कुल से
कुसुमाकर ही यदि माँगे विदा।
यदि नृत्य-प्रमत्त मयूरों से सावन-
मास में मेघ ही माँगे विदा।
निशानाथ की शारद-रात्रि में जो,
कुमुदों के कलाप से माँगे विदा।
फिर पीर अधीर शरीर को चीर के,
प्राण ही क्यों न माँगे विदा।

(६१)

यहाँ आकर के कर के कर में, मन-
प्राण को भा रहे, भा रहे हो।
इस मानस में तुम राजमराल से,
छा रहे, छा रहे , छा रहे हो।
सुहृदों के उरों के सरोवर में गहरे,
गहरे छवि पा रहे हो।
तुम जा रहे हो कि निरंतर और भी
अन्तर बीच समा रहे हो।

(६२)

तुम जा रहे हो, यह जान निशीथिनी–
ने निज ओस के आँसू बहाये।
नभ ओक भी, शोक से नील हो, तारकों–
का धन धूल में देता मिलाये।
कलियाँ न खिलीं, खुल के अपने उर–
के क्षत हाय! उन्होंने दिखाये।
यह देखो वियोग के भाव का भार–
भी तो जग से उठता न उठाये।

(६३)

अम्बर मेघों का बहुरंगी उष्णीष सजे,
है धरा शालि के धरे वसन उन्मद धानी!
बँध कर, अतिग्म रवि-किरणों के मधु - बंधन में,
सुख-स्पर्श तिमिर हलका शीतल पुलकित विगलित-
लहराता चंचल विद्युत का कौशेय पीत,
है बरस रहा रस के कुड्मल, अविरत दानी।

हैं स्नात-गात लतिकाएँ कोमल कलित विनत,
केशर के केशों से झरते हैं रस-निर्झर,
केतकी सुमन के आँचल से उड़ गन्ध - चूर्ण,
यंत्रित करता है गति समीर की मनमानी!

ये स्वयं दूतिकाओं सी सरिताएँ उच्छल,
कूलों की कारा तोड़ बढ़ रही हैं प्रतिपल,
श्लथ रभस-विस्रंसित शत-शत तरल तरंग-चीर,
उड़ते हैं मीनकेतु के केतन से मानी!

वृन्दावन

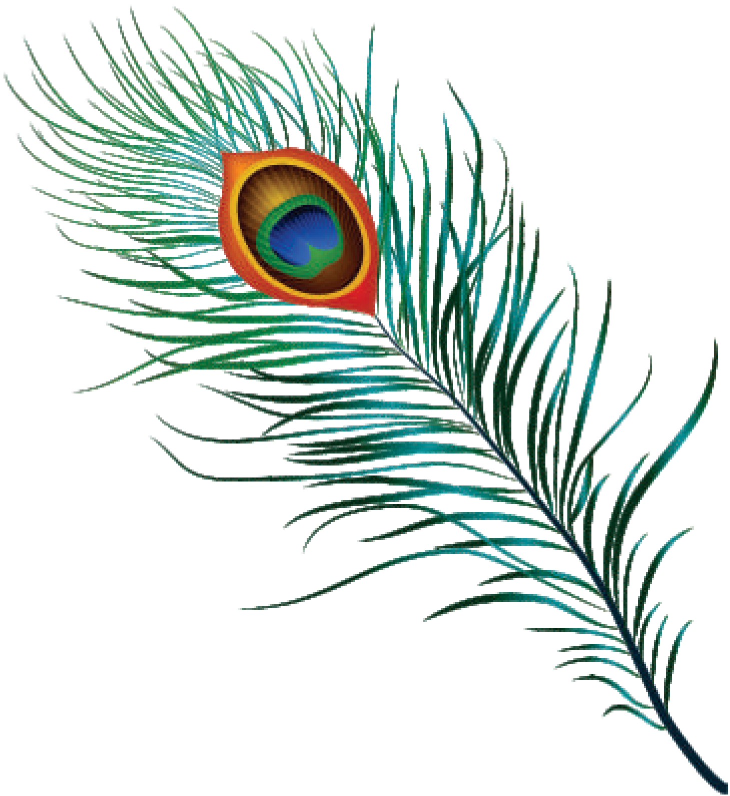

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

प्रकाशक : अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी समिति पुस्तक न्यास
२/२२ त्रिवेणीनगर, सीतापुर रोड,
लखनऊ-२२६०२०

मूल्य : 50-00 रुपये/ **संस्करण** : प्रथम / **वर्ष** : 1997/
कम्प्यूटर टाइपसेटिंग : कम्पोजिंग प्वाइंट, गोमती नगर, लखनऊ
आवरण सज्जा : सुरेन्द्र मेहता / **मुद्रक** : इलाइट प्रिंटर्स, लखनऊ

VRINDAVANA (Poetry)
by : Kunwar Chandra Prakash Singh
Rs. 50-00

श्री वृंदावन की यावज्जीवन आराधिका
जीवन सहचरी
स्वर्गीया श्रीमती सावित्री देवी
को

श्रीवृंदावन चिन्तामणि भूमि है। यह भगवान कृष्ण की प्रियतम लीलाभूमि है। इसकी महिमा वैकुण्ठ आदि लोकों से भी अधिक मानी गई है।

वृंदावन वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित चिन्मय रस की उद्भव स्थली है, उसका चरम-परम अधिष्ठान है। चिन्मय रस का शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर रूपों में परिपाक और प्रदर्शन होता है।

डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने एक अत्यन्त संवेदनशील, भाव- प्रवण और सच्चा भक्त हृदय पाया है। 'वृंदावन' खण्ड काव्य में उनका मन खूब रमा है। वृंदावन से जुड़ी राधा-कृष्ण सम्बन्धी सहज संवेद्य झलकियाँ अपनी पारदर्शिता से टकसाली छन्दों के रूप में पाठकों को भाव-विभोर कर देती हैं।

'वृंदावन' में संकलित छन्द ऐसा रस-वर्षण करते हैं जिससे अन्तरात्मा अनिर्वर्चनीय आनन्द का अनुभव कर तुष्ट-सन्तुष्ट परितृप्त हो उठती है तथा एक नये भाव-लोक में पहुँच कर वहीं रम जाती है।

-प्रकाशक

आत्म निवेदन

श्री वृंदावन चिन्तामणि भूमि है। यह भगवान की प्रियतम लीलाभूमि है। नाम, रूप, लीला और धर्म में कोई भेद नहीं होता। ब्रज और श्री वृंदावन की महिमा का गान सर्व समाराध्य महामुनि शुकदेव जी ने गोपियों के द्वारा इस प्रकार किया है।

जयति तेद्यधिकं जन्मना ब्रज :
श्रयत इन्दिरा शश्वतदत्र हि
दयित दृश्यतां दिक्षु तानका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।।

'प्रियतम प्रभु श्यामसुन्दर! तुम्हारे जन्म के कारण ब्रज और वृंदावन की महिमा वैकुंठ आदि लोकों से भी बहुत अधिक हो गयी है। तभी तो सौंदर्य, मृदुलता और सौभाग्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी अपना अधिवास वैकुंठ छोड़ कर यहाँ नित्य निरन्तर निवास कर रही हैं। देवों और भोगियों के लिए भी अगम्य, ऋषि मुनियों के लिए प्राप्तव्य, वृंदावन की महिमा का यत्किंचित् गान मैं अकिंचन कर पाया यह वृंदावनेश्वरी का परम अनुग्रह है।

वृंदावन वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित चिन्मय रस की उद्‌भव स्थली है, उसका चरम-परम अधिष्ठान है। चिन्मय रस का शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर रूप में पंचमुखी परिपाक और प्रकाशन होता है। मेरे इस लघु काव्य ''वृंदावन'' में उसी की कुछ झलकियाँ प्रस्तुत कर पाना मेरा अभीष्ट रहा है। मेरे प्रयास की अर्हता के निर्णायक सुधी सहृदय भगवान के भक्तजन हैं। उनको कुछ परितोष हो सका तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूँगा।

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

स्वतंत्रता दिवस, १५.०८.१९९९

(१)

कृष्ण अनादि हैं आदि हैं
हैं सब कारणों के वह एक ही कारण।
गोविंद है उनका प्रिय नाम
वे सच्चिदानंद हैं दिव्य महाघन।
हैं परमेश्वर वे ही परात्पर
सृष्टि अ-सृष्टि रहे कर धारण।
निर्गुण ब्रह्म उन्हीं की अवर्ण्य
अनंत महाछवि के कवि - चारण।

(२)

गोकुल नाम का ग्राम महत्तम
कृष्ण का पूर्ण परात्पर धाम है।
दिव्य सहस्रदलों के सरोज-सा
कोटि कला कमनीय प्रकाम है।
देश के, काल के सौरभ से
मधु से भरा कर्णिका-कुंज ललाम है।
श्याम का ओक विशोक वही
वह लोक अनंतता का परिणाम है।

(३)

है षट्कोण समन्वित पद्म
सहस्रदलों का, महाचिति की कृति।
मंत्र अठारह अक्षरों का -
छहों अंग में हीरकों की विलसी द्युति।
प्रेम की निर्वृति की परानंद की
है रसस्रोत तुरीय की संसृति।
कर्णिका - यंत्र में कोटि कलामयी
क्लींमयी कृष्ण की नित्य है संस्थिति।

(४)

गोकुल धाम सरोज सा शोभन
कृष्ण हैं कर्णिका के अधिवासी।
गोपियाँ हैं दलों में विलसीं
उन श्याम तमाल की सोनलता सी।
मंजु निकुंज से पत्र प्रवर्द्धित
वास हैं राधिका के अविनाशी।
क्लींमयी भूमि है चेतना की परा
प्रेम की आदि अनंत प्रभा - सी।

(५)

वृंदा, अरण्य शरण्य अनन्य है
देख छटा शत नंदन लाजे।
कोटि कला कमनीय यहाँ
शत पत्र लता तरुराज विराजे।
दिव्य विहंगम रूप धरे
कल गान अनूप महामुनि साजे।
देख रहे हरि लीला महासुर
लोचनों में ब्रज की रज आँजे।

(६)

उज्ज्वल नील महामणि के
शत मंजुल वंजुल कुंज हैं शोभित।
वृंदा अरण्य में सच्चिदानंद घटायें
निरंतर हैं नव वर्षित।
राधिका के कल नूपुरों के
यहाँ नाद अनाहत हैं चिर गुंजित।
शिंजिनी के वलयादिक के
स्वन के रहते श्रुतिकोकिल कूजित।।

(७)

राधे ! राधे ! राधे
राधे, राधे, राधे !
मोहन ने मुरली में ये स्वर साधे फिर फिर साधे।
नभ ने विगलित फिर - फिर गाया - राधे, राधे, राधे।
तृण-तृण, कण-कण, अणु-अणु बोले-राधे, राधे, राधे।
बहे पसीज धराधर सरि वन कहते राधे राधे राधे।
अश्मीभूत जलधि रटता था राधे, राधे, राधे।
भग्नवेग यमुना आवर्तों में रह रह अकुलाई,
विथकित चकित पवन ने केवल श्वासों में स्थिति पाई।
चिति के शत-शत घन अंबर में गरज-गरज घिर आये,
अमृतस्रावी आतपत्र से छाये दिशि - दिशि छाये।
द्रवित स्रवित मरुओं के उर की टूटी दुर्गम कारा,
जड़ता के शत अतल फोड़कर बही रसामृत धारा!
दग्ध, स्तब्ध उच्छिन्न महीरुह मुकुलित हो मुसकाये,
शूल बन गये फूल, फूल बन वर्ण-गंध सरसाये।
मौन हुए कोकिल कल स्वन सुन केकी नर्तन भूले,
ऋतु-क्रम तज निःशेष लता-द्रुम सुमन सुफल भर झूले।
शशि-कर-निकर स्वरों के शत-शत इंद्रधनुष बन छाये,
परानंद के कोटि कोटि ऋतुपति धरती पर धाये।।

(८)

मोहन की मुरली के सजे स्वर,
विश्व विमोहन राधिके, राधिके !
अंबर ने, अवनी ने, अरण्य ने,
अंबुधि ने कहा राधिके, राधिके।
भग्न-प्रवाह हुई यमुना,
लहरों में समा गया राधिके, राधिके।
सिद्ध-समाधि हुए ऋषि-वृंद,
जगा अजपा जप राधिके, राधिके।।

(९)

पी मुरली - स्वर का अमृतासव,
चेतन सृष्टि अचेतन हो गई।
गंध था सान्द्र, समीर सतन्द्र था,
कुंठित चन्द्र की भी गति हो गई।
व्यालिनी सी डसके जग को,
वह चाँदनी भी चित होकर सो गई।
फूल-सी विच्युत हो नभ से,
नखतावली धूल में आ मिली खो गई।।

(१०)

बाँसुरी के स्वर के अभिषेक से
रीति अचेतनों की हुई न्यारी।
पर्वत विंध्य हिमाद्रि से हो द्रवीभूत
बहे रसाप्लावित सारी।
उत्पल हो उपलाश्म खिले सब
पादप हो उठे अंबर चारी।
फूल खिले गगनांगण में
गई तारकों की नई सृष्टि सँवारी।।

(११)

द्योतित हो उरों की अवनी
सहसा नवनीत सी कोमल हो गई।
विद्युतों की सरितायें अनंत
बढ़ीं उमड़ीं तम - कल्मष धो गईं।
अंबुदों से उमड़े ऋक्, साम
सुधाब्धिमयी श्रुति की धृति हो गई।
चिन्मय एक अखंड अभेद
विभूतिमती रति जागृत हो गई।।

(१२)

नर्तित हो उठीं मत्त मयूरियाँ

चातकी ने 'पी कहाँ' स्वर साधा।
मन्द्रित थे अति मंद हो मेघ
न बाँसुरी के सुर में पड़े बाधा।
बंधन तोड़, थीं धावित धेनुएँ
ग्रास रहा मुख-चर्वित आधा।
होके अधीर किसी अति पीर से
कान्ह विभोर हो गा उठे राधा।।

(१३)

चिन्मयता कुछ ऐसी बढ़ी कि
तिरोहित हो गयी चेतना आसुरी।
रश्मियों में सुरों के बँध के
उतरीं धरती पर प्रेरणायें सुरी।
दारुण पीर जगी जग में
मन-प्राण गले ढलकीं सब पाँसुरी।
श्याम थे व्यष्टि में श्याम समष्टि में,
राधामयी बजी श्याम की बाँसुरी।।

(१४)

नृत्यपरा थीं दिगंगनायें सब
टूट गये दृढ़ बंधन देश के।
काल के पाश भी छिन्न हुए
उमड़े अधरों के सुधौघ ब्रजेश के।
क्लेश विमुक्त हुआ जग-जीवन
भेद गये मिट शेष-अशेष के।
कल्प हुई वह वेणुमयी निशा
मूर्च्छित थे रथवाह निशेष के।।

(१५)

सुप्त रही तरु वीरुधों में
तृणों में जो अनादि महाचिति जागी।
पुष्प प्रवाल पराग के ब्याज
हुए पुलकांचित वे बड़भागी।
पाद्य सजा शत ऊर्मियों के
सरिता - सर भी उसके हुए रागी।
शस्य से शष्प से श्यामल हो
मरुभूमियों ने रसहीनता त्यागी।।

(१६)

था नटराज का रूप अनूप
लसे श्रुतियों में प्रसून कनेर के।
बर्ह के पिच्छ का मंजु किरीट
प्रकाशित था मुख के मधुस्मेर से।
हंसिनी भी कमलासना थी
नत बाँसुरी को अधरों पर हेर के।
चाप से शोभित अंबुद से हरि
मुग्ध थे राधिके, राधिके टेर के।।

(१७)

निर्जर शाश्वत ज्योति के
सूर्य विराट् सी चेतना की छवि छाई।
ऐन्द्रिय दासता से मन मुक्त थे,
देह ने ऊर्जा अलौकिक पाई।
ताल सुबद्ध थे श्वास-प्रश्वास
सुस्वप्न विनिर्मित-सी क्षिति भाई।
आरती-सा प्रति रोम उठा जल,
गोपियाँ दीपावली बन धाईं।।

(१८)

शुभ्र सुवर्ण के पंख पसार के
बाँसुरी के स्वर व्योम में छाये।
भागवताग्नि की अर्चियों के
वे सुपर्ण-समूह महाजव धाये।
स्पंदन व्यापा विराट के वक्ष में
कोटि सुधांबुधि से लहराये।
काल के व्याल के कोटि फणों
पर नर्तित वे नटराज से भाये।

(१९)

ऊर्जित कालजयी सुधा के
महाकुण्ड से हैं अभिषिक्त हो आये।
लास्य से आदि हरप्रिया के
लय की अमिता ललिता सृति लाये।
मग्न महातप में ब्रज - देवियों
उरों में बन श्याम समाये।
कान्ह की बाँसुरी के स्वर वे
परानंद के अंबुधि से लहराये।।

(२०)

शाश्वतता की महाजलराशि
बढ़ी उमड़ी सब तोड़ किनारा।
कोटि विशुभ्र तरंगें उठीं
महाभव से था नभ चित्रित सारा।
काल के नृत्य का चक्र रुका
गई टूट स्वभाव की कर्म की कारा।
एक असंग अकंप अभेद
परात्पर का था अनंत पसारा।।

(२१)

बाँसुरी के स्वरों के समारोह में
चेतना ने सजी तारकों की तरी।
ज्योति के स्वर्ण के अंबुधि में
तिरती घिरती चली मोतियों से भरी।
सूर्य के सोम के अग्नि के
आंतर तत्व से थी अनुरंजित बैखरी।
एक अनुत्तर गीति के गंध से
मोदित थी उर की प्रति पाँखुरी।।

(२२)

गोपियों के हुए स्रस्त दुकूल
प्रसून –गूँथी कबरी भी गई खुल।
कंगन ढीले हुए करों के
औ' प्रस्वेद – प्रवाह में देह गई धुल।
ज्ञान गया सब, मान गया मिट
अंतर था महाज्योति समाकुल।
वृत्तियाँ थीं मुरली में रलीं
स्वर की सरि में था प्रवाहित गोकुल।।

(२३)

ध्यान में कान्ह समा गये
प्राण में प्रेम भरी मुसकान गई भर।
चित्रपदा गिरा श्याम की वल्गु
पुकारमयी श्रवणों में गयी भर।
लाल की चाल लड़ैती त्रिभंग
तरंगवती नयनों में गयी भर।
श्याममयी हुई राधिका
'राधिका' 'राधिका' से दिशाकाश गये भर।।

(२४)

अधरों धरी बाँसुरी के स्वरों की
जगी गोपियों के उरों में महाज्वाला।
दग्ध हुई कुल - धर्म की चेतना
छिन्न हुई गृह-कर्म की माला।
सस्मित श्याम के आनन की
सुषमा की अनंत पिये हुए हाला।
कान्ह ही कान्ह पुकारतीं
ज्वालिता आरती-सी चलीं वे ब्रजबाला।

(२५)

पैन्ह लिए उलटे ही दुकूल
विभूषण भी उलटे सब धारे।
शिंजिनी कंठ में धारण की
कटि देश में मौक्तिक माल सँवारे।
वेणी रची कल कंकणों से
चरणों में सजे शिरोभूषण सारे।
गोपियाँ हो अभिसारमयी चलतीं
कहती कहाँ श्याम हमारे।।

(२६)

धेनुओं के उरों में भी तरंगित हो उठे
वे सुधा - सिंधु - सने स्वर।
कर्णपुटों को खड़ाकर वे लगीं पीने
लगे झरने दृग - निर्झर।
दूध की धार पयोधरों से-
थी, प्रवाहित था मधु-पूरित अंतर।
छोड़ स्नुतस्तन पान लगे सब
वत्स भी पीने वही रस- सीकर।।

(२७)

सुस्मृति में किसी विस्मृत लोक की
चिन्मयी चेतना की व्यथा जागी।
कल्मष की, क्लम की, भ्रम की, भय की
द्विधा के तम की निशा भागी।
विश्व के मृत्यु के गह्वर में
उतरी अमृतत्व -उषा अनुरागी।
बाँसुरी के स्वरों के अविनश्वर
तार में सृष्टि गयी सब तागी।।

(२८)

शाश्वत चेतना के प्रभापूरित द्वार
अनंत अपावृत हो गये।
सूर्य के चन्द्र के मण्डलों से
उरों के नभोदेश प्रभावृत हो गये।
एक असीम अबाध महागति से
दिशा-देश थे व्यापृत हो गये।
बाँसुरी के स्वरों से सब जीव के
काल के बंध निराकृत हो गये।।

(२९)

प्राणिक बोध के रोध से शोध से
एक अतीन्द्रिय ज्योति जगी जयी।
ताल सुबद्ध से श्वास-प्रश्वास में
व्याप्त हुई गति गीति सुधामयी।
रूप की दीपकमालिका - सी
लगी स्वप्नविनिर्मित सृष्टि प्रभामयी।
एक अरूप अनाम अधाम की
चेतना की घिरी मेघ घटा नयी।।

(३०)

चेतना जीव समष्टि की व्यापक
हो गयी ऐसी बजी वह बाँसुरी।
नीरवता के घने घनों सी बरसी
धरती पर अश्रुत माधुरी।
आ गया ज्योति का ज्वार, हँसीं-
विकसी सब चैत्य सरोज की पाँखुरी।
चिन्मयी शारद राका समागता
देख दुरंत जड़त्व निशादुरी।।

(३१)

कंज के कानन में कल-कूजित
हंसिनी सी विलसी वह बाँसुरी।
इन्द्र के चाप की वर्ण-विभूति भरी
दरसी वह बाँस की बाँसुरी।
कृष्ण पयोद को चूमती
चन्द्रिका की स्वर-बीचियों सी हँसी बाँसुरी।
गोपियों के लिए शाश्वत धर्म की
कान्ह की दूतिका-सी लसी बाँसुरी।।

(३२)

बाँसुरी के सुरों के महाकेन्द्र से
अर्णवमान हुई पराचेतना।
घूर्णित कोटि तरंगें उठीं
चिति के घनों से नभ गर्जित था घना।
कौमुदी-मंडित विश्व विराट था
सामने स्वागत-तोरण-सा तना।
एक अचिंत्य महामधु देश में
योग प्रवेश का गोपियों का बना।।

(३३)

लोहित नील विचार के व्योम के सान्द्र
सभी अवरोध थे ज्योतित।
रात्रि के निष्प्रभ अंतर में उडुलोक
अलौकिक था समुद्भासित।
सत्य के विस्मृत लोक के एषण में
हुईं आंतर वृत्तियाँ धावित।
जन्म के मृत्यु के निर्झर सूखे
धरा अमृतत्व से थी परिप्लावित।।

(३४)

कैसी ठगोरी भरी सखि ! आज
बजा रहे हैं हरि बैरिन बाँसुरी।
जा रही हैं किस ओर कहाँ हम
शेष कहीं तम है न प्रकाश री।
दग्ध हुई कुल धर्म की चेतना
कैसी समिद्ध हुई ये हुताश री।
श्वास-प्रश्वास में भी है घुला,
शत-कोटि प्रभंजनों का महोच्छ्वास री।

(३५)

डूबती प्रेम के अर्णव में ब्रज गोपियों की
तरणी बनी बाँसुरी।
मोहन के मुख-पंकज की भ्रमरी-सी
लसी विलसी वह बाँसुरी।
मोह महामेरु में चिति के घनों सी
सरसी बरसी वह बाँसुरी।
भौतिक जीवन में पराचेतना की
मधु-केन्द्र गयी बन बाँसुरी।।

(३६)

गोपियाँ श्याम-समीप गयीं
कर पार ससीम की अंतिम सीमा।
वर्त्म असंख्य से आके जहाँ
चरणों में पड़ी थी अनंतता भीमा।
काल-अतीत के सामने था चलता लगा
काल का स्यंदन धीमा।
भाव - अभाव की ज्ञेय-अज्ञेय की
पार गयीं कर भूमि असीमा।।

(३७)

विश्व के रूप अनंत, थे
देश के दूर-समीप के भेद अपाकृत।
काल के भूत अनागत, आगत-
के सब अंतर भी थे निराकृत।
स्थूल के, सूक्ष्म के कारण देह के
रूप हुए अमृतत्व से व्यापृत।
बाँसुरी में परा का था विलास
थीं बैखरी मध्यमा आदि तिरोहित।।

(३८)

देख समागत गोपियों को
कहा श्याम ने कैसे यहाँ तुम आईं।
श्वापद-संकुल कंटकाकीर्ण
अरण्य में घोर निशीथ में धाईं।
त्याग दी है कुल धर्म की चेतना
नैतिकता सब है बिसराई।
शीर्ण हैं चीर शरीर सभी
अविवेकमयी गति क्यों अपनाई।

(३९)

रोते हुए सुतों को तुम छोड़ के
आईं यहाँ कहो क्या है प्रयोजन।
सेवा पदांबुजों की पति के
धरती पर नारियों का है महाधन।
त्याग उसे यहाँ आईं चलीं तुम
ऐसे अधर्म में क्यों उलझा मन?
लौटो, करो निज धर्म का पालन
सार्थक होगा तभी यह जीवन।।

(४०)

श्याम ! बुलाया तुम्हीं ने हमें
बजा मोहमयी मुरली रससानी।
छीन लिये मन, प्राण सभी
फिर भी कहते हो अरितुंद वाणी।
माता, पिता, पति, पुत्र, सखा सबमें
रमे हो, कहते सब ज्ञानी।
एक तुम्हीं मति हो रति हो,
पति-पुत्र की छेड़ दी कैसी कहानी?

(४१)

माता, पिता, पति, पुत्र, सुता सब के
अनुराग के ताग सँवार के।
बाँध दिये बँट के उनसे मन को
चरणों तुम्हारे विचार के।
कामना कोई न कान्ह ! हमें
करो त्याग हमारा न धर्म बिसार के।
प्राण रहेंगे भला तन में किस भाँति
बिना प्रिय प्राण-अधार के।।

(४२)

मत्त मयंद से चाहते हो
तुम तोड़ना स्नेह के दाम हमारे।
किंतु न होगी अभीष्ट की सिद्धि
कभी भी सुनो, यह श्याम! तुम्हारे।
देख तो लो तुम राधिका के
गये केश हैं ये किस भाँति सँवारे।
बद्ध इसी अलकावली की
रज्जु में विचरोगे बने मतवारे।।

(४३)

हम जानती हैं इस बाँस की
बाँसुरी का तुमको है गुमान बड़ा।
अधरासव पी के तुम्हारा हुआ
इस बाँसुरी को अभिमान बड़ा।
अभी 'राधिका', 'राधिका' टेरते थे
अब आ गया नीति का ध्यान बड़ा।
चलो राधिके ! लौट चलें ब्रज को
छलिया है सखी ! यह कान्ह बड़ा।।

(४४)

ठान लिया न सुनेंगे कभी
हम कान से बाँसुरी कान्ह! तुम्हारी।
आह-कराह भरी दिन-रैन
कभी निरखेंगी न राह तुम्हारी।
पीर-अधीर भले ही रहें दृग
याद कभी न करेंगी तुम्हारी।
आ गये सामने तो भी
कभी निरखेंगी नहीं मुस्कान तुम्हारी।।

(४५)

हमें भूल के भी न भुला सकेगी
मुख - पंकज की मुस्कान कभी।
नये मोर के पंख सजाओ भले
हमें देखना है उनको न कभी।
करो कोटि कला हम श्याम नहीं,
अब बाँसुरी के वश होंगी कभी।
नयनों के अपांग का चेटक भी
ब्रज में न चलाये चलेगा कभी।।

(४६)

श्याम सुनो तुमसे हमने दृढ़ है
अनबोलने का व्रत साधा।
राका निशा में अकेले यहाँ
बिहरो तुमको है नहीं अब बाधा।
भूल चुकी रस-रीति प्रतीति की
त्याग चुकी सब प्रीति अगाधा।
बावरे हो विचरोगे अभी
कहते हुए हाय! कहाँ गयी राधा।।

(४७)

मनुहार - भरे हरि बोल उठे
बस रूठना ही तुम जानती हो।
रस -रीति - प्रतीति तुम्हारी यही
परिहास में भी रिस ठानती हो।
बन दूतिका लाई बुलाके तुम्हें
मुरली से विरोध क्यों मानती हो।
इस राका निशा में अजान-सी हो
क्यों वितान-ये मान का तानती हो।।

(४८)

हम हैं वश में बस राधिका के
मुरली उनके गुण गाती सदा।
उन्हीं के महाह्लाद के सीकर से
यह नादमयी रह पाती सदा।
उन्हीं के महाभाव की चेतना को
यह भाव भरी सरसाती सदा।
यह बाँसुरी चेरी सदा उनकी
रहती उनके रसराती सदा।।

(४९)

छल छैल तुम्हारा चलेगा नहीं
हम हैं तुमको पहचान गईं।
पटु हो अति चाटु में वंचना में
यह राधिका भी अब जान गई।
अनरीति चलाये चलेगी नहीं
मन से है तुम्हारी प्रतीति गई।
बस बाँसुरी ले वनवास करो
रस - रीति गई, वह प्रीति गई।।

(५०)

है शशि के बिना दीन चकोर
अधीन है स्वाति के चातक जैसे।
है रवि के बिना हीन रथांग
कुरंग विलीन है नाद में जैसे।
मीन अधीन सदा जल के
वश यामिनी के कुमुदावलि जैसे।
राधिका के मैं अधीन सदा
अनदेखे रहूँगा उन्हें सखि! कैसे।।

(५१)

उर वाटिका में सखि ! मेरी
सदा रहती खिली सोनजुही बन राधा।
वसुयाम पुकारता हूँ उनको
असुरूपिणी हैं प्रतिश्वास में राधा।
सुधि के सुधापूर्ण घनों में सदा
विलसा करतीं बन विद्युत राधा।
रस के महासागर की तरणी बन खेतीं,
सदा रहतीं मुझे राधा।।

(५२)

इनके कल झंकृत नूपुरों के
रव में निगमागम हैं फलते।
इनके पद पंकजों में सुर सिद्ध हैं
राजमराल बने पलते।
लहराती है देह की स्वर्णलता
इनकी हैं झकोरे हमें छलते।
दृग दीप-शिखा से निरंतर हो
अनिमेष इन्हीं के लिए जलते।।

(५३)

हम ग्वालिनी भोरी गँवारिनी हैं
निगमागम की सुनी बात नहीं।
सुर सिद्ध मुनींद्र कहाँ पलते फलते
यह भी हमें ज्ञात नहीं।
निरखी नहीं स्वर्ण की कोई लता
ब्रज में वह डोलती बात नहीं।
अब बावरे हो करो कोटि कला
चलने की लला यह घात नहीं।।

(५४)

हम राधिका के मृदुहास के
अर्णव में रहते मधुसिक्त सदा।
उनके नयनों के अपांग के हैं
रस से रहते अभिषिक्त सदा।
उनके मुखचंद्र की चंद्रिका पी
दृग के हैं चकोर अतृप्त सदा।
कुछ मान के मान का ध्यान रहे
इतनी न रहो सखि! दृप्त सदा।।

(५५)

वेद पुराण बखानते हैं
करुणा की महार्णव हैं सदा राधा।
प्लावित हैं करती रहती
जन को उनकी कृपादृष्टि अगाधा।
काय की व्यूह तुम्हीं उनकी
फिर डाल रही अब क्यों यह बाधा।
बाहर भीतर मेरे वही
उनके बिना कल्प-सा है पल आधा।।

(५६)

वेद पुराण पढ़े तुमने
कब और कहाँ यह भेद बताओ?
सीखी है चाटुकला किससे
अपनी चटसार की गैल दिखाओ।
गाय चराते पिराते हैं पाँय
कहीं गुरुज्ञान की पैठ चलाओ।
ऐंठ तुम्हारी रहेगी नहीं
अब बैठ कहीं सुर-सिद्ध मनाओ।।

(५७)

सखि ! मान तुम्हारा अमान हुआ
अभिमान रहा तुमको छल है।
हम राधा पयोद के चातक हैं
पल भी न बिना उनके कल है।
मनुहार न मान हमारी रही
रहा शेष न लोचनों में जल है।
तुमको बल रूप का है अपने
हमको अब बाँसुरी का बल है।।

(५८)

किसको भय है अब बाँसुरी का
ढलकेगी नहीं सुनके धुन पाँसुरी।
अब कान सुनेंगे न तान कभी
अब चालित होंगी न वृत्तियाँ भासुरी।
ध्यान में प्राण से दूर हुए
करो कोटि कला तुम चेटकता भरी।
राधिका के पद - कंज के नूपुरों के
सुर सी नहीं स्वैरिणी बाँसुरी।।

(५९)

रसहीन प्रभावविहीन हुई
अति हीन है भावना-क्षीण है बाँसुरी।
नहीं भूल के फूल हैं देखे कभी
पलती रही शूलों के मूल में बाँसुरी।
इसकी क्षमता पहचान गयीं
हम जान गईं छल छंद है बाँसुरी।
कर लो अपनी कला प्यारे लला
अब होगी अरण्य का रोदन बाँसुरी।।

(६०)

तुम मान नहीं मनुहार रही
तो सुनो ये अरण्य का रोदन ही सुनो।
यदि बाँसुरी के सुरों में बल है
तो धुनो परिताप में शीश सदा धुनो।
मन को बना प्रस्तर ही है लिया
तो अमान हो मान के कंटकों को चुनो।
निज रूप के यौवन के मद में
अपराध निरंतर मेरे गिनो गुनो।।

(६१)

कहते-कहते यह साँवरे ने,
अधरों पर धारण की फिर बाँसुरी।
शत कोटि पपीहों की वेदना का
महाज्वार भरी बजने लगी बाँसुरी।
इस विश्व के कानन के सब कोकिलों की
कल कंठता ले बजी बाँसुरी।
शत नारद शारद के स्वरों की
सुधा-सिंधु मयी बजने लगी बाँसुरी।।

(६२)

करने लगा नर्त्तन मत्त - सा होके
कलापी-कलाप विलाप भरा।
विरही जनों में जगा दाह प्रदाह
वही दृगों से बन मेघ झरा।
विरहानल जागा त्रिकाल त्रिलोक का
दग्ध थी स्तब्ध थी सारी धरा।
जलने लगे चीर शरीर के थे
प्रति प्राण में ज्वालामुखी उघरा।।

(६३)

स्वरों की अनलार्चियों से
सरिता-सर-सागर-मेघ लगे जलने।
बढ़ी ऊष्मा अचानक ऐसी
महागिरि मेरु हिमाद्रि लगे गलने।
जग-जीवन-कानन में विरहौघ के
दाव अनंत लगे पलने।
जलते हुए विश्व महाद्रुम में
शद अश्रु अजस्र लगे फलने।।

(६४)

कटु थी अति कोटि हलाहलों से
सुधा सिंधुओं की शत थी गत माधुरी।
वह वेदना ऐसी निरंतर वर्द्धित हो
प्रति अंतर - अंतर में घुरी।
प्रति प्राण में थी जल-वंचित
मीन-समूह अनंत की मानों सभा जुरी।
रसना-रसना में बसी थी महा
व्यथामाते पपीहों की कोटि कुरी।।

(६५)

कटुता भरी कोटि - हलाहलों की
उठीं दाह की ऊर्मियाँ विश्वजयी।
निशिता महाव्योम में चेतना के
घनों से घनी व्याकुलता उनई।
स्वर के उन दीपकों ने की पतंग-सी
जीवन की गति मोहमयी।
प्रति रोम को कर्ण बना
जड़-चेतन पी रहे थे वह पीर सुधामयी।

(६६)

जिन तत्वों से काया का पंजर था बना,
वे सहसा गलने से लगे।
रस, रूप के, गंध के, शब्द के, स्पर्श के
पाश सभी खुलने से लगे।
क्रिया देह के जीव के भी समवाय
गुणों के सभी घुलने से लगे।
जिन सोलह से बना विश्व विराट
कलाचय वे जलने से लगे।।

(६७)

फिर ऐसी बजी सहसा मुरली,
वह दाह का ज्वार हो शान्त गया।
स्वर-सप्तकों की सुमनावली से
खिलता प्रकटा जग एक नया।
नई गंध की ऊर्जित अर्णव से
परिप्लावित चंद्रिका थी अजया।
वह मान गया सब गोपियों का
कहती थीं करो अब कान्ह दया।।

(६८)

वन के मृग और मृगीगण
साश्रु हो कान्ह को थे अनिमेष निहारते।
शुक सारिका मत्त मयूरी मयूर
थे गान के नृत्य के कौशल हारते।
सब वृक्ष - लता झुक, झूमते थे
फलों फूलों के थे उपहार सँवारते।
पुलकांचित कंपित शैल सभी
द्रवीभूत हो थे पदकंज पखारते।।

(६९)

शुक ने कहा मत्त हो 'कृष्ण कहाँ'
कहा सारिका ने कहो मुग्ध हो राधा।
मदनार्दित कृष्ण हैं राधा बिना
मदनार्दन हैं बनते सह राधा।
कलालाप सुना विरहातुर साँवरे
गा उठे बाँसुरी में फिर राधा।
अंबर में अवनी में निरंतर
गूँजता था स्वर हो कहाँ राधा।।

(७०)

प्रति रोम से गोपियों के उठने
लगे गीत अनंत हो कान्ह कहाँ।
जलती हम बाँसुरी के स्वरों में
हमें त्राण दो 'हो तुम कान्ह कहाँ।'
विष ज्वाला अनंत में दग्ध हुईं
हम जा रहीं 'हो तुम कान्ह कहाँ'
अधरामृत आके पिलाओ, शरण्य तुम्हीं,
हो, छिपे अब कान्ह कहाँ ?

(७१)

मधुवर्षिणी बाँसुरी ने सिरजी,
यह संसृति, आह प्रवाह भरी।
सब ओर से हैं बढ़ती चली आ रहीं
ऊर्मियाँ व्यालों-सी दाह भरी।
किसने कर दीं तन की ततियाँ
सब ज्वालित चाह-अचाह भरी।
सब प्राणों के कंचुक क्षार हुए
रही श्वास ही शेष उमाह भरी।।

(७२)

हम बाँसुरी के स्वरों की रसिका
अधरामृत पीती रही हैं सदा।
चिर-चुंबिता बाँसुरी-सी ही रहीं,
पर भर्जना ऐसी न देखी कदा।
विष बीधी, बधी-सी, विमोह-बँधी,
मदहीन हुई हम हैं प्रमदा।
प्रलयाग्निमयी इस बाँसुरी को,
करो दूर सखे ! हर लो विपदा।।

(७३)

प्रिय सामने हैं फिर भी क्यों भला,
न वियोग की आग है जाती सही।
मधुवर्षिणी बाँसुरी के स्वरों से
जलती है निरंतर आज मही।
नभ दग्ध, दिशायें हैं दाह भरी,
बचने का न है अवकाश कहीं!
सखि ! डूबें चलो यमुनाजल में
न विलंब करो अवलंब यही।

(७४)

घेर के कान्ह को गोपियों ने,
कुछ देर उन्हें अनिमेष निहारा।
रूप के अर्णव में उनके
प्लव-सी गतिहीन थीं हो असहारा।
टूट गई मन, प्राण की, देह की
गेह की इन्द्रियों की जड़ कारा।
भेद-अभेद से भिन्न अचिंत्य
बही चिदानंद की चेतना धारा।।

(७५)

विरहानल में परितप्त हो गोपियों के
तन के घट कुंदन हो गये।
परिसिंचित बाँसुरी के स्वरों से
उनके सब रोम सुधा-घन हो गये।
दिव के चिदानंद के स्रोत मिले
महाभाव के अंबुधि से मन हो गये।
धरती पर स्वर्ग स्वयं उतरा
जड़ जंगम ज्योति के प्लावन हो गये।।

(७६)

गोपियों ने कहा श्याम ! सुनो
सब प्राणियों के परमेश्वर हो तुम।
माता-पिता, गुरु, बंधु, सखा,
हम गोपियों के अति प्रेष्ठ सदा तुम।
जानती हैं पहचानती हैं, यह
प्राण के प्राण हमारे सखे ! तुम।
वाक् छल से न भुलाओ हमें,
भ्रम के तम में भटकाओ नहीं तुम।।

(७७)

गोपियों ने कहा - 'श्याम ! हमें
भ्रम की रजनी में भुलाओ नहीं तुम।
प्रेष्ठ अनन्य हमारे तुम्हीं
उपदेश दे क्यों करते हो वृथा श्रम।
नित्य हो, सत्य हो, शाश्वत हो
सदा अन्तर में हो विराज रहे तुम।
प्रेम के सूत्र तुम्हीं पति- पुत्र के
भूल सकेंगी भुलाये नहीं हम।।

(७८)

चित्त निरंतर गोपियों का
गृह कार्य में श्याम ! रमा करता था।
लूट लिया यह त्रिक्त, अनित्य को
मान जो नित्य भ्रमा करता था।
किन्तु तुम्हारे स्वरूप में श्याम
यही तब भी विरमा करता था।
प्राप्य तुम्हीं पति रूप में हो
इस भाव की भूमि रचा करता था।

(७९)

पति-पुत्र के रूप में, माता-पिता के
स्वरूप में श्याम विराजते हो।
प्रति प्राण के मादक गान तुम्हीं
प्रति रोम में झंकृति साजते हो।
इस जीवन के रस - सागर में
शशि रूप सदा अवगाहते हो।
अब और न ठौर कहीं हमको
विरहाग्नि में क्यों हमें दाहते हो।

(८०)

वनवासिनियाँ हम हैं
हमको नहीं अक्षर ज्ञान की भिक्षा मिली।
हम धेनुओं बीच पलीं
उनसे ही हमें शुचि शील की शिक्षा मिली।
वन में कुश-कंटकों में
रहके इस जीवन की तप - दीक्षा मिली।
तुम आये धरा पर श्याम
अकाम तो एक तुम्हारी प्रतीक्षा मिली।।

(८१)

अर्पित हैं मन जीवन प्राण
न शेष है कोई सहारा हमें।
जग के सब भोग हैं रोग सखे।
लगते सब काल की कारा हमें।
तुमको हम छोड़के जायें कहाँ
नहीं मोड़नी जीवन-धारा हमें।
पद-कंज की रेणु में रंजित हैं
ध्वनि वेणु की एक सहारा हमें।।

(८२)

गृह, गाँव, कुटुम्ब में लिप्त रहीं,
हमें अर्चना का अवकाश नहीं मिला।
चरणों में प्रपन्न तुम्हारे हुए
जग-ताप का क्लेश न लेश उन्हें मिला।
हम हैं शरणागत किन्तु हमें
विरहानल ताप ही ताप सदा मिला।
भर्जित है प्रति रोम, हमें
अधरामृत का अभिषेक न क्यों मिला?

(८३)

मुख पंकजश्री अलकावृत की
भ्रमरी बन जीवन चाहती हैं।
चिर स्मेरमयी इस दृष्टि की वृष्टि में
डूबना थाहना चाहती हैं।
कल कुंडल लोल कपोल-त्विषा
अनिमेष निहारना चाहती हैं।
हम दासी तुम्हारी अशुल्क सखे !
मिलना पग-धूलि में चाहती हैं।

(८४)

सुनो श्याम ! विराजती सामने हैं
वृषभानुसुता सुख शोभामयी।
इनके सहचार में ही हम में यह
दृष्टि अनोखी नयी उनयी।
इनके पद-पंकज की अलिनी हम
नित्य हैं सच्चित मोदमयी।
हम दूर न हों क्षण भी तुमसे
कर दो हम को चिर श्याममयी।।

(८५)

कहते-कहते यह गोपियों की,
हुई श्वास-प्रश्वास थी कंठगता।
शिथिलायित बंध हुए तन के,
प्रति रोम में ज्वाला जगी अमिता।
रति कृष्ण पदाम्बुजों में हुई लीन
थी ऐन्द्रिय चेतना अस्तगता।
यह देख के श्याम ने ली मुरली
जन जीवनदायिनी जो अमृता।।

(८६)

मुरली बजी, शारद कोटि सुधा-घन
वे वनभूमि में आके घिरे।
लतिका तरु में खिले तारक फूल
कलिन्दजा में शत चन्द्र तिरे।
स्वरों के शर से हुई विद्ध दिशा,
प्रति अंतर में वे गड़े गहरे।
रस-राशि की सृष्टि अशेष हुई,
ब्रज-गोपियों के फिर भाग्य फिरे।।

(८७)

शुचि हास था श्याम का
या थीं खिली सब ओर मनोरम कुंदकली।
मुख-अंबुज था अथवा सर नैश में
थी खिली अद्‌भुत कंजकली।
नख दीधिति देख चकोरियों के
उर इंदु की भ्रान्ति की ज्योति जली।
सब गोपियाँ पूछतीं, आर्त्तिभरी
तुम क्या हो, कहो अये श्याम ! छली।

(८८)

ब्रजदेवियों के छविमंडल मध्य
ब्रजेश्वरी से मिल श्याम विराजे।
तारिका गोपिकाओं से घिरे
लख श्याम को चन्द्र असंख्यक लाजे।
केकी कलाप सी नृत्यरता
उन गोपियों ने शत विभ्रम साजे।
कंठ में श्याम के माला बनीं
भुजबंध में वल्लकी से तन भ्राजे।।

(८९)

गोपियाँ थीं जितनी
उतने ही गोविंद ने रूप अनूप बनाये।
श्याम के युग्म में गोपिका शोभित,
गोपिका युग्म में श्याम सुहाये।
गोपियों को निज आत्मस्वरूप-से
श्याम समीप लसे मन भाये।
मेघों के मध्य में दामिनियाँ लसीं
दामिनियों में घने घन भाये।।

(९०)

गोपिका मानती थीं

बस श्याम हैं एक हमारे हमारे हमारे।

हैं रमते प्रति रोम में मेरे,

उन्हें प्रति श्वास में हैं हम धारे।

प्रेष्ठ हूँ मैं उनकी उनसे सदा

दीपित हैं दृग के युग तारे।

प्राण के प्राण हमारे वही

नहीं होंगे कभी हमसे अब न्यारे।।

(९१)

रास में गोपिका-मंडल-मध्य में

श्याम थे श्यामा के साथ विराजे।

रूप की कोटि घटायें घिरीं

छवि-सिंधु अनंत विलोक के लाजे।

कौतुक देख के काम विमुग्ध हो

मूर्च्छित था, उसे ले गण भागे।

कोटि कलानिधि साथ उगे,

गये शोभा के ताग अचिंत्य में तागे।।

(९२)

तान से, ताल से, झाला समूह से
मूर्च्छना से दिशाकाश गये भर।
नृत्यरता थीं कलापी-कलाप-सी
गोपियाँ प्लावित नूपुरों के स्वर।
पायलों की झनकार के
चूड़ियों की खनकार के छूटते थे शर।
शारद राका निशीथ ने था
प्रकटाया अनुत्तर योग धरा पर।।

(९३)

श्याम के रंगरँगी यमुना की
तरंगवती लसी श्याम छटा।
था द्रवीभूत घनी वनराजि का
शोभासमूह यथा प्रकटा।
इंदिरा के उस शाश्वत धाम में
राधिका शोभित पीतपटा।
थी सुरचाप विभूषित नर्तित
वेणुमयी वहाँ कृष्ण घटा।।

(९४)

पाँवड़े नेत्र समाकुल को बना
देखती थीं पथ कान्ह की राहें।
भेंटने को उनको थीं अधीर
करील -कदम्ब- तमाल की बाँहें।
थे भरते मुरली सुनने को
शिखी शुक, कोकिल, चातक आहें।
चाहती थी यमुना भरी पीर
कि आकर वे उसमें अवगाहें।।

(९५)

एक निमेष प्रतीक्षा-भरा
सबके हित कल्प-समान था हो गया।
था प्रतिकुंज में गुंज भरा
अलिपुंज था आर्त पुकार ही हो गया।
सैकत भी यमुना-तट का
अविराम अभीप्सा का विग्रह हो गया।
था वन का प्रति आन्तर-लोचन
नीर भरे घनश्याम सा हो गया।।

(६६)

‘‘क्या हो नहीं सुनती तुम रोहिणी
श्याम की बाँसुरी है मुझे टेरती।
भूखे हैं बाल-गोपाल सभी
सब मंडली छाक का है पथ हेरती।
कोई कन्हैया से जाके कहो
जननी उनके बिना है अवसेरती।’’
आ रही सखी साँझ सखी ! उनके
मुखचन्द की कौमुदी कान्त बिखेरती।।

(६७)

मथ के दधि भांड में मंथित छोड़
कमोरी को लेने गई ब्रजरानी।
निज इष्ट को भोग लगा फिर
श्याम को माखन सद्य खिलाने की ठानी।
लौट के देखा, थे आ गये श्याम
लसी मुख की छवि माखनसानी।
खग वानरवृन्द हुए परितृप्त
लुटा रहे थे दधि औढरदानी।।

(६८)

''वन को सखि रोहिणी ! आओ चलें
निज हाथ से कान्ह को छाक खिलायें।
बल भैया को घैया बड़ी प्रिय है
वन में ही उन्हें हम आज पिलायें।
सब ग्वाल सखा मिल छाक छकें
और घैया पियें जितनी मनभाये।
पकवान खिला कर गोगण को
बछड़ों को चलो परितृप्त करायें।।''

(६९)

वन में कलालाप यशोदा का जो सुना
गायें अधीर सुनीर हो धाईं।
डकराते हुए बछड़े चले
कंटक झाड़ियों में घनी राह बनाई।
सूँघती, चूमती, चाटती थीं
यथा रंक ने दिव्य महानिधि पाई।
सुरभीगण से घिरी
देवप्रसू-सी विराजती थी वहाँ कान्ह की माई।

(१००)

वन देवियाँ भी सुरभी गण का
धर रूप अरोग रही पकवान थीं।
मृगमाला यशोदा के आँचल को
मुख में धर माँगती स्नेह का दान थीं।
पिक चातक सारिका की अवली
उन्हें घेरती गाती, अनुत्तम गान थी।
उन स्नेह सुतस्तनी को लख के
शत अंबुद की अवली गतमान थी।।

(१०१)

तरुवृन्द लतागण में अपनी
गतिहीनता की अति पीर जगी।
कण एक न पा सके, यद्यपि सामने
स्नेह महासरि थी उमगी।
सहसा ही बिना ऋतु के उनकी
सब डालें प्रसून फलों से रँगी।
बरसाने लगे घन से उनको
जब लौटी यशोदा प्रमोदपगी।।

(१०२)

कान्ह गये घर लौट
तो नंद से रूठ गये अनबोलनी ठानी।
मैया गईं वन धैया लिये, तुम
भूल गये हमें की मनमानी।
आते वहाँ सब बैठते घेर सुनाते हमें
तुम राम कहानी।
मारा निशाचरों को किस भाँति
हम उनसे सब रक्षित प्राणी।।

(१०३)

''श्याम सदा नयनों में बसे रहो
नित्य लसे रहो पास हमारे।
चाहता हूँ, बस एक यही मन
प्राण कभी तुमसे हों न न्यारे।
ब्याई नई वह नैचिकी, आज
रहे हम गोठ में वत्स सम्हारे।''
''आहा ! अहा ! बछड़ा है कहाँ
कहते हुए श्याम भी गोठ सिधारे।''

(१०४)

'श्याम ! कहो वन को फिर
क्या न पधारेंगी प्यारी यशोमति मैया।
क्या फिर आज छकेंगे न छाक
पियेंगे सुधा के समान न धैया।
फिर से जननी को बुलाओ यहाँ
करते मनुहार सखा हम भैया।
भूख के सागर में तरणी
अब डूब रही है तुम्हीं हो खेवैया।''

(१०५)

श्याम हँसे मुसका उठे राम,
कहा ''मधुमंगल ! दौड़ के जाओ।
मैया फँसी गृह-काज में आज
उन्हें वन की इस गैल न लाओ।
माई से जाके कहो अपनी
वन में हम को चल धैया पिलाओ।
बोल उठा मधु कान्ह ! ''हमें
छल-चातुरी के मत पाठ पढ़ाओ।।''

(१०६)

''श्याम सुनो हमको
दधि माखन की नहीं चाह न धैया पिलाओ।
नित्य रहो नयनों में बसे
मुख माधुरी की छक छाक खिलाओ।
धैया न चाहिए प्यारे हमें
भरे प्यार हमें नित कंठ लगाओ।
नैसुक बैठ सखागण बीच
उमाह भरे वर वेणु बजाओ।।

(१०७)

वृन्दा अरण्य की श्री-सुषमा
अनिमेष अशेष सुरी, सुर हेरते।
बादल भोर से आ घनश्याम की
शोभा निहारने को नभ घेरते।
सीकर व्याज से वे धरती पर
नन्दन के थे प्रसून बिखेरते।
देर करो न ब्रजेश मृदंग-
मनोरम वे मिल घोरते, टेरते।।

(१०८)

सहसा शतशृंग विषाण बजे
सजे बाँसुरी के स्वरों के धरा-अम्बर।
चिति के इस प्लावन में थे निमज्जित
गोकुलवासियों के बहिरंतर।
बछड़े हुए पुच्छ उठाकर धावित
स्तनभार से धेनुओं की गति मन्थर।
घिर गोप सखागण से घनश्याम
चले वन को सुनते जय के स्वर।।

(१०९)

घिरे गोप सखागण गोगण से
घनश्याम चले, यमुनातट आये।
बोले सखे ! रमणीय सुकोमल
बालुका स्वच्छ मुझे यह भाये।
आओ यहाँ करें भोजन साथ
करें मिल मोद-विनोद सवाये।
बोले सखा सब, 'साधु है, साधु है,
आओ यहाँ मिल खेल रचायें।।

(११०)

बैठे हुए घनश्याम को घेर

थे छोटे-बड़े सब गोप विराजे।

कंज की कर्णिका के सब ओर

यथा दल कोमल हो गये साजे।

खेलते - खाते -खिलाते परस्पर

कान्हा को गोपसखा थे रिझाते।

छीन के कौर सखागण के

मुख से, कर से, हरि मोद से खाते।।

(१११)

सामने फेंट में थी मुरली फँसी

कक्ष में, श्रृंग विषाण मनोरम।

कुंतलों में गुँथे पुण्य प्रवाल

मुखस्मिति कौमुदीकान्त अनुत्तम।

ओदन ग्रास लिये कर में

थे खिलाते सखागण को मधुमत्तम।

वृन्दाअरण्य के वृक्ष लता, खग

देखते श्याम की लीला महत्तम।।

(११२)

श्याम ने देखा है आँगन में धरी
माखन से भरपूर कमोरी।
गोपिका ने निज इष्ट के
पूजन के हित थी श्रम से निधि जोरी।
खाने लगे उसे लेकर मोहन
गोपी ने आ पकड़ी यह चोरी।
'मैं समझा घर मेरा यही
हरि बोले बनाकर सूरत भोरी।'

(११३)

सौंह तुम्हारी सखी !
यह माखन ही मुझे टेर यहाँ तक लाया।
भूख लगी थी मुझे, न सही
गई, मैं अपना घर जान के आया।
रोष करो मत, दोष क्षमा करो,
दूँगा तुम्हें नवनीत सवाया।
माता यशोदा से जाके कहूँगा
तुम्हीं ने मुझे बरजोरी खिलाया।।

(११४)

आम्रमंजरी के मकरंद से प्रमत्त भृंग
चारण -से गा रहे हैं यश वृंदावन का।
नृत्य करते हैं केकीकुल देख श्याम-तन,
अवलोक साम्य स्निग्ध पावस के घन का।
श्याम का प्रफुल्ल राका शशि-सा निहार मुख,
शतगुण हर्ष है चकोरों के नयन का।
साथ राधिका के नटनागर को देख
होता दर्प है दलित दामिनी बलित घन का।।

(११५)

वृंदारण्य कल्पतरुओं का है अनन्य वन,
श्यामरूपी तरुण तमाल शोभमान हैं।
गुंजित मिलिंद खग कूजते हैं वृंद-वृंद,
रहके अलक्ष्य ऋषि गाते सामगान हैं।
यमुना-तरंग सी त्रिभंग श्याम-तन-छवि,
अंबर से भू तक अनंत भासमान है।
चिंतामणि भूमि है प्रशस्त रंगशाला
जहाँ नीलमणि उज्ज्वल सतत क्रीडमान हैं।।

आचार्य (डॉ०) कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

(प्राक्तन प्रोफेसर हिन्दी विभाग एवं अधिष्ठाता कलासंकाय,
बड़ौदा, जोधपुर तथा मगध विश्वविद्यालय)

जन्म तिथि : शरद पूर्णिमा सं. १९६७ वि., १८ अक्टूबर सन् १९१० ई.

कृतियाँ : समालोचना ग्रंथ– नाटककार भारतेन्दु और उनका युग हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परंपरा और भारतेन्दु, गोविन्द हुलास, अक्षयरस।

काव्य प्रभाकर किंवा रुक्मिणी हरण, भुज कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला, शोध साधना, शिवकवि कृत दौलतबाग विलास, हिन्दी नाट्य साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, हिन्दी शोध समस्यायें एवं समाधान आदि।

संपादित– पं. कृष्ण बिहारी मिश्र ग्रन्थावली आदि।

नाटक– कविकुल गुरु जनकवि जगनिक, कविवर नरोत्तमदास, पाँच एकांकी, आचार्य चाणक्य, अग्नि परीक्षा, तुलसीदास स्वराज्य की जननी।

काव्य– शंपा, मेघमाला, बा और बापू, प्रतिपदा, अपराजिता, विजया, रामदूत (महाकाव्य), वृंदावन (खंड काव्य), ऋतंभरा, संकटमोचन (महाकाव्य), यजुर्वेद काव्यानुवाद, सामवेद काव्यानुवाद।

अनुवाद– ऐन आउटलाइन आफ मेटाफिजिक्स का हिन्दी अनुवाद उज्ज्वल नीलमणि।

पुरस्कार : उ.प्र. हिन्दी संस्थान के 'भारत-भारती' पुरस्कार से सम्मानित।

सम्पर्क-सूत्र : २/२२, त्रिवेणीनगर, सीतापुर रोड, लखनऊ-२२६०२०

जीवन आस-पास

(कविता संग्रह)

• कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

'जीवन आस-पास' काव्यकृति में संगृहीत छन्दबद्ध और छन्दमुक्त कविताओं में सिद्ध लेखनी के धनी डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने अपनी जीवन-यात्रा के पिछले कुछ वर्षों में, जो प्रत्यक्ष देखा, सुना, अनुभव किया और भोगा है, उसी की राग-विरागमयी अभिव्यक्ति की है।

आज की आन्दोलनजीवी हिन्दी कविता से भिन्न उनका अपना अलग रचना-संसार है, जिसमें दीनों, दलितों, बुभुक्षुओं और तिरस्कृत मानवों के प्रति करुणा और संवेदना का सागर लहराता है। इन कविताओं में आस-पास के जीवन के साथ सीधा सरोकार और आत्मिक लगाव है। इनमें कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिनमें हृदयविदारक दंश हैं, कटु सत्यों की चुभन है, धर्म और अध्यात्म की गहराई है, प्रकृति-चित्रों की दर्शनीय छटा है तथा मानवीय दृष्टि का सहज प्रकाशन है। साथ ही हमारे राजनीतिक और सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमताओं के प्रति कुछ व्यंग्य और परिहास भी हैं।

कुल मिलाकर इन कविताओं में आस-पास के जीवन का बेलौस चित्रांकन है और ऐसा बहुत कुछ है जो पाठक को सोचने तथा मनन-चिन्तन करने के लिए बाध्य करता है।

जीवन आस-पास

(कविता संग्रह)

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी समिति
लखनऊ

शल्य चिकित्सा के

महान आचार्य

समस्त जीवन परहित-निरत

प्राणदान परायण

महाभिषक्

लखनऊ के महापौर

डॉ० सतीश चन्द्र राय

के पीयूषवर्षी करों में

अपनी बात

मैंने अपने जीवनयात्रा के पिछले कुछ वर्षों में जो प्रत्यक्ष देखा, सुना, और अनुभव किया, उसकी राग-विरागमयी अभिव्यक्ति 'जीवन आसपास' में संकलित मेरी कविताओं में हुई है। छायावाद और प्रगतिवाद के काव्य में दीनों, दलितों, बुभुक्षितों अपहृतसर्वस्वों के प्रति करुणा और संवेदना का जो अकृत्रिम, प्राणयोग मिलता है, वह आगे चलकर धीरे-धीरे क्षीण होता चला गया, आज तो वह लुप्तप्राय है। आज की हिंदी कविता आन्दोलनजीवी बन गई है। अकविता, छन्दमुक्ति, रूपवैचित्र्य-विधान, विदेशी शिल्प आयातन आदि आन्दोलनों और फैशनों में उलझ कर अपनी मूल रसवत्ता और रमणीयता की परम्परा से विच्युत हो गई है। आसपास के जीवन से उसका सरोकार कम और अपने अन्तर्मन से अधिक है।

ऐसी परिस्थिति में मेरा यह काव्य संग्रह बहुमुखी जीवनाभूतियों को सहृदय संवेद्य बना कर प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। 'लावारिस लाश', 'कूड़ाजीवी', 'मलजीवी' आगि बड़वाग्नि से बड़ी है आगि पेट की' हृदय विदारक साक्षात दर्शन के दंश हैं। 'ईद का चाँद' आदि प्रचार काव्य नहीं हैं। धार्मिक अथवा आध्यात्मिक जीवन की गहराई में निहित एकात्मकता के आंतर दर्शन का प्रकाशन है। 'गायत्री' रचना भी आध्यात्मिक जीवन की शास्त्रीय और व्यक्तिगत भावना का योग है। 'प्रकृति और विज्ञान' 'मानव और चन्द्रमा' जैसी रचनाओं में वैज्ञानिक उच्छृंखल विकास के प्रति मानवीय दृष्टि का सहज प्रकाशन है। हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त विषमता पर कुछ परिहास और व्यंग्य भी हैं।

यह काव्य संग्रह हिन्दी के सहृदय सुधी पाठकों के हाथों में अर्पित करते हुए मुझे परितोष है।

– कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह
३.९.९६

बलराम जयन्ती
भाद्रपद कृष्णपक्ष ६,
वि. सम्वत् २०५३

अनुक्रमणिका

क्रम.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	सरस्वती वन्दना	179
2.	गायत्री	181
3.	वाग्देवी की वन्दना	184
4.	हे कवि।	187
5.	सरकार	190
6.	राम और ऐतिहासिक शोध	191
7.	रमजान	196
8.	ईद का चाँद	198
9.	तेरा धर्म एक ही है, अहिंसा	199
10.	साम्प्रदायिकता ढहाओ	202
11.	नौ अगस्त	205
12.	पन्द्रह अगस्त	207
13.	लोकतंत्र का महापर्व	209
14.	भारतीय सैनिकों से	214
15.	चित्रकूट की रेल दुर्घटना	219
16.	अहं की कुरूपता	221
17.	डलमऊ	222
18.	रेल की एक रात	224
19.	कुँआर	227
20.	कातिक	228
21.	अगहन गया	229

22.	हेमन्त	230
23.	पूस का दिन	231
24.	माघ की रात	232
25.	फागुन	233
26.	गाँवों में जाड़े की रात और प्रभात	234
27.	आगि बड़वागि ते बड़ी आगि पेट की	236
29.	मलजीवी	238
30.	लावारिस लाश	240
31.	कूड़ाजीवी	243
32.	कल्कि	247
33.	बोलता गधा	250
34.	एक प्रश्न	251
35.	प्रकृति और विज्ञान	253
36.	मानव और चन्द्रमा	256
37.	वर्तमान	259
38.	पोहिक बे	260
39.	प्रशान्त महासागर के तट पर	263
40.	अमेरिकी जीवानुभूति के कुछ क्षण	266
41.	मैकाले के आँसू	269
42.	लंदन में	271
43.	मंडेला	274

सरस्वती वंदना

लेकर प्रकाश की सेनायें जो महीयान,
तम के विरुद्ध युद्धरत सदा हैं बलीयान।
अज्ञान रूप रिपु को करतीं जो सदा ध्वस्त,
उन सरस्वती की महिमा से है तिमिर त्रस्त।
साधनशील जन को करतीं प्रेरित जाग्रत,
वे आर्षज्ञान के संवर्धन में व्यापृत नित।
उन सरस्वती की कीर्ति और कृति महिमामय,
काव्य के रूप में प्रकट हो रही है अक्षय।
काव्य की शक्ति का चमत्कार यह चरम परम,
मृत हुआ आज जो कल पाता जीवन उत्तम।
उसके उदात्त आदर्श सदा रहते जीवित,
होते रहते समाज के जीवन में व्यवहृत।
है सरस्वती का परम अनुग्रह - इन्दु उदित,
अरि, काम, क्रोध, मद, लोभ हुए सब उन्मूलित।
बाहर भीतर के शत्रु हुए सब सद्यः हत,
भक्ति के, कर्म के ज्योतिरंशु सब हुए वितत।
फलतः अनात्म विषयों का अभिनिवेश दुर्जय,
जो नमुचिरूप था, हुआ ईश के द्वारा क्षय।
है प्रकट अनन्त, असीम व्योम की पूर्व दिशा,
वह बीत चुकी अब असत् अचित् की गहन निशा।
ज्वालायें अचल, प्रवृद्ध और अति बलशाली,

प्रज्ज्वलित हुई हैं अरुण प्रकाश ओघवाली।
भारती शुभ्र करती हैं अरुण ज्योति प्रसारित,
हो रहीं भूमियाँ परम सत्य की उद्‌भासित।
अति दूर हो गया निकट, हुआ सीमित असीम,
अति अल्प मध्य जाग्रत है भूमा अपरिसीम।
दारिद्र्य, दुःख अन्याय अनृत शोषण के प्रति,
करतीं विद्रोह हेतु प्रेरित वे कवि की मति।
सच्चिदानंदविग्रह सरस्वती को प्रणाम,
उनके प्रसाद से कवि बनता है पूर्णकाम।

गायत्री

ऊँ भूर्भुवः स्वः
भूरूप, अन्तरिक्षरूप निखिल द्युलोकरूप
अवस्थित हैं जो
सबके उत्पादक सविता
प्रसविता अनन्त ब्रह्माण्डों के,
अनन्त कोटि प्राणियों के-
जो हैं दीप्तिक्रीड़ामण्डित परमेश्वर
ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूपधारी
एक अद्वितीय सतत विमर्शपूर्ण परमप्रकाशरूप-
सभी सच्छास्त्रों के
चरम परम प्रतिपाद्य,
उनका वरेण्य भर्ग हो तुम हे जननी!
वह भर्ग जो,
तीनों लोकों और तीनों कालों के
समस्त पाप-ताप का
भर्जन करने में समर्थ हैं सदा।
वही तुम प्रातःकाल
प्रकट होती हो मूर्तिमती उषा-सी
उदयोन्मुख सूर्यमण्डल में
द्विभुजा, रक्तवर्णा, अक्षसूत्र कमण्डलुधरा ज्ञानदायिनी
ब्रह्मचारिणी हंसमारूढ़ा सरस्वती,
फिर मध्याह्न में माँ ! तुम्हीं
सर्वभूतरक्षिका शंखचक्रगदापद्मधारिणी

वैष्णवी चतुर्भुजा
रविमण्डल में होती हो अवतरित
अये गरुड़वाहिनी।
अथवा हे मातः
देती हो कभी दर्शन निज
श्वेत गजारूढ़ा
पुण्य पीत वस्त्रधारिणी
अखिल सुरेन्द्र संघवन्दिता
हिरण्यवर्णाभरणा महालक्ष्मीरूपा
करतल से झरती है
रजत हिरण्य रत्नराशि
अप्रमेय तब।
अये भक्तवत्सले
स्नेहस्नुत स्तनवती
करुणादयार्णवे!
और फिर सायंकाल
तुम्हीं अये शर्वाणी
देती हो दिखायी वृषाभासना
मुक्ताविद्रुम-हेमनील-धवल छायामयी
पंचमुख।
शीश पर धार इन्दु का किरीट स्रवित अमृत मेघ सा
तारांकित दुकूल श्यामधारिणी
वराभयमुद्रामण्डिते हे परा अम्बिके।
उतरो जन के मन के गगन में
प्रेरणा दो हमको, विश्व को,
करें हमें अभेद - बुद्धि

ध्यान परब्रह्मरूप तेज का तुम्हारे दिव्य।
भावाद्वैत, क्रियाद्वैत, द्रव्याद्वैत सिद्ध हो जन-जन को-
हों निरस्त द्वैतभाव देहभाव।
तुम्हीं हो हे जननी!
सर्वातीत परात्पर प्रभु का
परम प्रकाश वह
मुक्त करता जो जन्म-मृत्यु-रूप तटवाले संसृति के सागर से
जाग्रत की, स्वप्न की, सुशुप्ति की
दशाएँ करवा के पार
देती हो तुरीय दशा का अपूर्व उपहार।
प्रेरणा दो, उठें और जागें हम।
ज्ञानालोक प्राप्त करें।
बन जायँ एक मन, एक प्राण, एक हृदय,
मानव समाज सब।
खुल जायँ गाँठें सब।
तम को प्रज्ञान दो
अये वेदजननी।
मानस चैतन्य का करो उच्चतम विकास।
पहुँचे हम वहाँ, जहाँ
'विश्वभवत्येकनीडम्'
जहाँ विश्व बन जाय
मानवता नीड़ एक
परम विश्रामधाम
मातः शत, शत, प्रणाम।

वाग्देवी की वेदना

पूछा वाग्देवी ने–
‘शब्द और अर्थ
की यह महान साधना
किसलिए करते हो कवि।
इंद्रियों को अन्तर्मुख कर
तन को खपा कर घोर ताप में
मेरे चरणों में अर्पित करते हो
भाव-विह्वल हो सुमनांजलियाँ निरंतर
सर्वस्व समर्पण के प्रतीक रूप में।
अपना अभीष्ट कहो वत्स।
बोला कवि–
‘‘जननी! कृतकृत्य हूँ मैं
दर्शन मिला आपका
आप्तकाम हो गया मैं।
अंतश्चक्षु खुलेंगे,
रस के निर्झर झरेंगे
वाणी से मेरी
जिह्वा पर, कंठ में
विलसेगी माँ तुम्हारी कला
बुद्धि होगी मेरी

नीर-क्षीर की विवेकिनी!
कविता लिखूँगा
लोकमंगल-विधायिनी।”
बोलीं वाग्देवता
साँस खींच गहरी-
छोड़ो यह साधना,
यह श्रम-स्वाध्याय,
दूर करो भ्रम निज !
आह वत्स !
कविता नहीं है
अब मेरी वशवर्त्तिनी
प्रतिभाविहीनों ने लूट लिया मेरा
दिव्य महाज्ञान, रूप, धन।
काव्यशक्ति चाहते हो,
तो तुरंत वत्स ! यह
छोड़ो कृच्छ्र साधना।
त्यागो स्वाध्याय कक्ष,
और ज्ञान-प्राप्ति-लक्ष्य,
तोड़ो संबंध -सूत्र विद्या के
साधकों, आराधकों से।
जाओ जहाँ कूकर, शूकर,
उलूक, काक, कंक, श्येन,
गृद्ध, जंबुक चमगादड़ादि
करते निवास हैं।

वंदिनी है कविता वहाँ।
लय, ताल, छंद-ज्ञान भूल जाओ,
रमो काम-कर्दम में,
भड़काओ वर्ग-युद्ध विद्वेष, घृणा,
कविता के नाम पर सूक्ति लिखो,
अथवा निकृष्ट चित्र काव्य रचो,
बिना साधना के
कवि-कीर्ति मिल जायेगी।''

हे कवि !

श्रुतियों ने कहा है
तुम सत्यश्रवा हो,
सत्यद्रष्टा हो, सत्यवाक् हो !
इसलिए पूछता हूँ
तुमसे मैं आज,
क्या है तुम्हारा कर्त्तव्य-कर्म ?
क्या है तुम्हारा व्यावर्तक गुणधर्म ?
क्या तुम लिखोगे कथा
केवल गंदी नालियों में
पूय-पुरीष के कर्दम
में बिलबिलाते कीड़ों की ही,
अथवा उस आकाश की भी
जो हमें ऊषा की मुसकान,
सूर्य की ज्ञानदायिनी प्रभा,
तिमिरभेदी नक्षत्रों की दीपमाला
और सुधावर्षी सोम की कौमुदी
का प्रस्रवण दान देता है।
क्या तुम नहीं देखते
        इस धरती को
इरावती, गंधवती, शाद्वलवती
जो सब कुछ सहकर भी
जीवन को पालती है-

उसके पय से पोषित अंकुर
पाषाणों को भेदकर
जीवन का
विजय केतु बन
फहराता है।
यह जीवन हिमगिरि के
श्रृंगों पर भी विद्यमान है
समुद्रों की गहराइयों में भी
उसकी सत्ता है–
फिर कीड़ों से बिलबिलाती
नालियों का ही यशोगान आपको
प्रिय क्यों है?
आप यथार्थवादी हैं,
स्वीकार है !
पर यथार्थ का क्या कोई बँधा–
बँधाया पाषाण–जड़ रूप है।
तुमको स्पष्ट कहना होगा,
समाज के लिए राम का
यथार्थ ग्राह्य है या रावण का
पार्वती का यथार्थ इष्ट है
या क्लियोपेट्रा का
सीता का यथार्थ अभीष्ट है,
या सुनीता का ?
वाक्छल छोड़कर स्पष्ट

करनी होगी तुम्हें अपनी
दृष्टि !
सस्ती लोकप्रियता अर्जन का साधन
है तुम्हारा यथार्थ ?
क्या सत्यं शिवं और सुदरं का
हनन करने वाला ही है तुम्हारा यथार्थ !
स्पष्ट कहो,
इष्ट क्या है तुम्हें
कवि !
वाल्मीकि और तुलसी का
इष्टत्व
अथवा मार्क्स और ऐंजिल्स
का उच्छिष्ट ?

सरकार

आठ बजे सोकर उठे सरकार
बेड टी ली, वोदका की एक घूँट,
देखा अखबार।
पंजाब में मार दिए गए
                    चौहत्तर तीर्थयात्री
सोचा, सेंचुरी तो बनी नहीं !
अच्छा, बुलाओ पी.ए. को !
                    हाजिर हुआ।
पूछा, देखो चौहत्तर मरे हैं।
इनमें कितने हैं अल्पसंख्यक ?
पढ़ा गौर से पी. ए. ने।
                    बोला ''सरकार, लगता है
इनमें अल्पसंख्यक कोई नहीं।
आतंकवादियों ने उनको छुआ नहीं,
                    शायद अल्पसंख्यक बस में हो ही नहीं,
सब बहुसंख्यक मरे हैं !
                    सरकार ने संतोष की साँस ली !
बहुसंख्यक तो हमारे वोटर हैं ही
अल्पसंख्यक नहीं मरे,
                    प्रसन्नता की बात है।
बहुसंख्यकों को मामूली मुआवजा
देने की व्यवस्था पर्याप्त है।
बहुसंख्यकों की जान की कीमत,
                    ज्यादा से ज्यादा पाँच हजार।

राम और ऐतिहासिक शोध

सैकत - सा काल का
प्रवाह अनाद्यन्त यह
होने नहीं देता कभी अंकित है
कोई पदचिन्ह, स्मृति-रेखा निज वक्ष पर।
फिर भी महान ज्योतिमान कुछ तिथियाँ
अंकित हैं स्वर्णलेख बन कर उस पर।
उनमें है एक चैत्र शुक्ल पक्ष की नवमी
रामनवमी का अभिधान जिसे प्राप्त है।
आता ही रहा है जनजीवन-प्रवाह यहाँ,
कोटि-कोटि महासिंधुओं का ओघ मंद कर
त्रेता में, द्वापर में और कलियुग में
रामनवमी को इस पुण्यमयी भूमि पर अवध की।
जन-जन के उर की, ऋतु सत्यमयी दिव्य भूमियाँ
हैं प्रमाण दृश्यमान रामजन्म भूमि का,
जो है श्रीअयोध्या यही सरयूतटवर्तिनी।
दूसरी है पंचमी शुभद।
मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की
हृदय-हृदय पर, समय-पटल पर,
स्वर्ण लेख बन अविनश्वर है हो गई।
आती है जब वह
कोटि कोटि उरों के महार्णव में राष्ट्र के
उठती तरंगें हैं सभंग परानन्द की।

दौड़ते हैं लोग मिथिला को श्री अयोध्या को
        भावोन्माद भरे-
नेत्रों में जगाये छवि
        राम और सीता के वर-वधू वेश की।
बीते लक्ष-लक्ष वर्ष
        किन्तु कोटि-कोटि जन
आज भी रचाते हैं
        विवाह राम-सीता का।
उपवास रख कन्यादान करते हैं वे,
        आँसू बरसाते हुए
करते विदा हैं जानकी को
        जान पुत्री निज।
अवध नगर में सजाये साज जाते हैं,
        स्वागत के वर के, वधू के
घर-घर में
        अवधपुरी बन जाती है महोत्सवप्रपूरिता आज भी!
घर-घर, गली-गली
        कण-कण, तिल-तिल।
ऐतिहासिक शोधकर्ता खोजते हैं स्मृति के चिन्ह राम सीता के,
        धरती के गर्भ में, मिट्टी और प्रस्तरों की तहों में,
जो बहा दिये गये असंख्य बार
        प्लावनों में महानदी नेत्रजा के, सरयू के।
प्रकृति के कोटि-कोटि ध्वंसकारी हाथ जिन्हें
        कब के मिटा चुके हैं और ले गये हैं बहा सिन्धु के मुहानों तक।

हाय कितना है दिग्भ्रान्त यह शोधकर्म,
मूकभाष इन भूमियों में श्री अवध की
स्वार्थअन्ध, कटु तुम्बरी से शिर वाले जन,
मोर पंख जैसे नेत्र लिये
शोधकर्त्ता कहते हैं
राम की अयोध्या के प्रमाण नहीं मिलते हैं
भूमियों के खोदने से इस पुण्य क्षेत्र में।
जोड़-तोड़ कर, श्रुतियों को कर विकलांग,
कहते अयोध्या है हमारी सीकियांग में।
थाईलैण्ड, लावा, इण्डोनेशिया आदि में
स्थित अनेक अयोध्यायें हैं
अति दीर्घकाल से।
अब तो अमेरिका भी
पहुँच रहा है श्री अवध धाम,
उद्यत है भूमि वह
धारण करने को उसे अपने हृदय में।
राम नाम है जहाँ,
निश्चय अयोध्या भी है वहाँ।
किंतु इस धरा धाम पर
अवतरित हुए थे
राम रघुवंश में जहाँ
वह है अयोध्या यही सरयूतटवर्तिनी।
लाखों वर्ष के प्रमाण खोज रहे हैं जो यहाँ
ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध जन,

उस धरती के अन्तराल में
        जिसका स्वरूप लक्ष–लक्ष बार बना और बिगड़ा है।
कितने ही दशकों में बार–बार
        दिव्य उन्मादमयी सरयू महानदी
अधिसंख्य बार है ढहा चुकी, बहा चुकी
        धरती का बाह्यरूप इस पुण्य धाम का,
कौन कह पायेगा, सुनायेगा कहानी तुम्हें,
        ईसा पूर्व आठ सौ वर्ष के पहले की।
पूछते नहीं क्यों तुम नभ के नक्षत्रों से,
        साक्षी थे तब जो, आज भी हैं।
करो अनुशीलन खगोलशास्त्र का भी तुम,
        उनके प्रमाणों की परीक्षा करो
        शक्ति हो जो तुममे !
पूछो उन कोटि–कोटि जनों से
उनके प्रसन्न भक्ति–प्रक्षालित मानसों से,
        जो हजारों, लाखों पीढ़ियों से आ रहे हैं श्री अवध को।
कारण, अयोध्या यह वही है
        जहाँ त्रेता में राम अवतारी ने लिया था अवतार है साथ अंशों के
साक्षी हैं सरयू और
        सूर्य, तारे, नक्षत्र ग्रह–
साक्षी हैं वाल्मीकि,
        साक्षी हैं कोटि–कोटि
हृदयों के आस्थादीप
        जो कभी बुझे नहीं काल के प्रभंजन से।

अये इतिहासविद् !
        अंधकारजीवी एक खग जैसे
कुछ भी कहो, करो प्रलाप तुम
था पर अवध धाम यहीं
        इसी सरयू के तट पर।
हो गया तुम्हारा है विपथ इतिहास-ज्ञान,
मरु की मरीचिका से त्रस्त
        मूढ़ मृग जैसे,
किसी दयनीय राजनीति के इशारे पर
सत्य को असत्य कहने को हुए बाध्य तुम,
घोर अंधकार को प्रकाश कहते हो तुम।
जन्म-भूमि राम की वहीं थी जहाँ अब है !
        सब धर्म आकर,
मिले हैं गले-गले यहाँ,
        आगे भी मिलेंगे
और मिले ही रहेंगे सदा।
        किन्तु हाय, बाबर बनो न तुम दूसरे
अंध इतिहासविद् !

रमज़ान

यम नियमों के पालन का है महापर्व रमज़ान,
ओ बंदे ! बंदगी भूल मत, आया है रमज़ान।
तप कर पावन बन यह कहता आया है रमज़ान,
अल्लाहो अकबर' ईश्वर है महिमावान महान।
तू रब को पहचान बताने आया है रमज़ान,
क्षण भर भी तू भूल न प्रभु को यह कहता रमज़ान।
दिल के दर्पण को करता जो निर्मल वह रमज़ान,
दिखती दिलवर की छवि उसमें ऐसा यह रमज़ान
जल बिछड़ी शफरी की तड़पन यह सहरी का राज़,
तड़प खुदा के लिए यही है पूजा और नमाज।
सबका दुःख जिसका अपना दुःख वही पाक इंसान,
यही बताने आया करता बार-बार रमज़ान।
पर दुःख हरने को आतुर जो वह कामिल इंसान,
इन्हीं मुकम्मिल इंसानों का स्रष्टा है रमज़ान।
मानव-मानव में करता जो भेद नहीं वह धर्म,
सत्य धर्म है, दया धर्म है और अहिंसा धर्म।
चलता फिरता मंदिर, चलती फिरती मस्जिद देह,
विश्ववास अल्लाह बसा है सबमें निःसन्देह।
परम प्रेम से भर जाने दे तू दिल का दरियाव,
खुदा नाखुदा बनकर तेरी देख खे रहा नाव।
खुदी छोड़ उतरेगा दिल में तब हुजूर का नूर,

भर ले उस प्रकाश से अपना अंतर तू भरपूर।
विश्व मैत्री और परम करुणा का पर्व महान,
खेद मिटाता, भेद मिटाता आया यह रमज़ान।
सबकी एकादशी सभी के हों रोज़ा रमज़ान,
ख़ुदा एक है, धर्म एक सब, कहता यह रमज़ान।
ओ बंदे ! बंदगी सिखाता सच्ची यह रमज़ान।

ईद का चाँद

संध्या की सस्मित प्रशांति में लीन हुआ रमज़ान,
ऊँची मीनारों से ऊँची उठने लगी अज़ान !
अल्लाहो अकबर, अल्लाहो अकबर की स्वर धार,
प्रवहमान हो उठीं, दिशाएँ पुलकित बारंबार।
ज्योतिर्मय हो उठे प्राणमन, लोचन हुए निहाल,
तेज पुण्य का, केतु धर्म का, नभ में उगा हिलाल।
सफल हुये सब आज नियम यम रोज़ा और नमाज़,
पहनाया अपनी ख़िलकत को आज ख़ुदा ने ताज।
नर-नारी आबाल-वृद्ध सब दृष्टि गगन में बाँध,
देख रहे हैं नूर नया वह पूजी मन की साध।
उसी समय पावन प्रदोष की बेला आई जान,
प्रभु चरणों में किया समर्पित नत हो जन ने ध्यान।
हुई अवतरित दिव्य चेतना, उमड़ा परमानंद,
शिव के व्योम विशाल भाल पर था शशि वही अमंद।
तपोसिद्धि बन उतर रहा था जग में नया वसंत,
जाग उठे नभ के आँगन में मंगल-दीप अनंत।
उमड़ पड़े मानव-मानव में निश्छल पावन प्यार,
बनो गले के हार सभी के यह ऐसा त्यौहार।
जलें मुहब्बत की ज्वाला में दिल के सभी विकार,
अलगावों की तोड़फोड़ . दो पाषाणी दीवार।
अंतर में पोषित पशुता को कर दो तुम कुरबान,
सत्य अहिंसा की होती जय यह रब का फरमान।
जग जाने दो सारे जग में संशयहीन विवेक,
ईश एक है, धर्म एक है, मानव-संस्कृति एक।

तेरा धर्म एक ही है, अहिंसा

'अपनी-अपनी भाखा लेइ दइउ का नाँउ'
कहा है कवि जायसी ने।
यह जगत एक आम्रवन है
रसाल-विटपों से परिपूर्ण
लताएँ लिपटी हैं जिनसे
मधुरातिमधुर भावनाओं की।
शत-शत वर्णों के पर्णों से परिपूर्ण हैं, ये
अनन्त सौरभ-पुष्पों से समाच्छादित।
इस महावन में
देशों की क्यारियाँ हैं
साधन-पंथों के अगणित कलित कुंज
तने हैं वितानों-से
और प्रियतम की प्राप्ति के
कान्त कूजित निकुंज हैं निभृत वहाँ,
जहाँ बजती रहती है।
रात दिन दिन रात
प्रियतम कृष्ण की प्रेम की मुरली-
जहाँ राम और सीता का नाम
आदर्शों का आलोक ओक रचता रहता है,
निरंतर।
जहाँ मीनारों जैसे ऊँचे वृक्षों से

उठती है परम प्रभु की
प्राप्ति के लिए अजान।
ईश्वर एक ही है
सबसे महान
यह पुलिकत समाह्वान
जहाँ थी ईशु का करुणापूरित हृदय
गिरजों की घंटियों में
बज-बज उठता है बार-बार,
जहाँ मानव की आधार भूत
एकता का, चरम परम सत्य
आराधनाओं की वाणी बन गूँजता है।
''ईश्वर अल्ला तेरे नाम
रघुपति राघव राजाराम।''
जहाँ सब धर्म अन्वेषण करते हैं
एक ही त्रिकालाबाधित सत्य का
कि मानवता का आराध्य,
सबका प्राप्य एक है,
सत्य अविनश्वर है,
असत्य नाशवान है।
जहाँ अयोध्या, मथुरा,
बद्री, केदार, कांची
द्वारिका, जगन्नाथधाम,
काशी, काबा, मदीना
जेरुशलम आदि तीर्थ

पूर्ण तोय सरोवरों से संस्थित हैं।
सब वृक्षों पर, सरोवरों के तट पर
बैठे हैं अनंत देशों, अनंत जातियों
असंख्य मजहबों के पंछी
जो अपनी-अपनी भाखा में लेई दइउ का नाँउ
वे कहते हैं-
मनुष्य तेरा धर्म एक ही है,
तेरी संस्कृति एक है,
उसका नाम है अहिंसा
उसका नाम है प्रेम
वही परम धर्म है।
" मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी
नाहि त काह छार भरि मूठी।"

साम्प्रदायिकता ढहाओ

दो इसे जड़ से मिटा, हे बन्धु !
दीन-हीन अपढ़ कृषक मजदूर,
चलें रेलों पर टिकट लिये बिना,
लिये झण्डे हाथ में हँसिये हथौड़े के
रक्तवर्णी ---- लाल जिनका रंग
रहा लिखता है सदा इतिहास हिंसा का।
जनपदों से ग्राम जन आवें किराये पर,
युवा, बालक, वृद्ध-वृद्धायें
झुकी जिनकी रीढ़-
रहे अक्षर ज्ञान-वंचित जो सदा,
रक्तवर्णी इसी ध्वज की छाँह में
सीखते वे पाठ हिंसा के, घृणा के-
यही दोनों राजपथ हैं खुले,
चलो इन पर बन्धु।
साम्प्रदायिकता तुम्हें यदि है
ध्वस्त करनी इष्ट।
और करनी राजनीति विशिष्ट
प्राप्त करने के लिए सत्ता।
दीन हीन अबोध शोषित और जर्जर देह
भूख से जो बन गये हैं खेह,
पटे उनके शवों से जो मार्ग

उन्हीं पर चलकर सकोगे प्राप्त
कुर्सियाँ ऊँची, बड़े पद।
यह तुम्हारी साधना हो सफल
डूब जाये रक्त पारावार में यह देश
और फिर तुम बैठ,
सत्ता शीर्ष पर,
करो बन्दरबाँट बहुविध कुर्सियों का।
साम्प्रदायिकता तभी होगी ध्वस्त !
धर्म के सब मूल नष्ट, निरस्त !
किंतु यदि तुम चाहते हो देखना वे केन्द्र
साम्प्रदायिकता जहाँ पाती है प्रवेश न भूल।
इसी लक्ष्मण की पुरी में है अली का गंज
वहाँ है हनुमान मन्दिर एक,
रही माता आसफुद्दौला उदार नवाब की
उन्होंने निर्माण करवाया
भव्य मन्दिर यहाँ श्री हनुमान का।
कभी जाओ वहाँ मंगल को
और देखो-
वहाँ जाते हुए आचाण्डाल, ब्राह्मण को
एक साथ समान श्रद्धा से
रगड़ते निज स्कन्ध से शत स्कन्ध ।
और देखो सैकड़ों ये सिख
पहन पगड़ी शीश पर
परिवार लेकर साथ अपना

अर्चना में निरत हैं हनुमान की।
कौन कह सकता है कि
है इस भीड़ में नहीं कोई
अन्य धर्मों का परम श्रद्धालु अनुयायी।
सैकड़ों हैं केन्द्र ऐसे इस नगर में
निखिल भारत में ।
संकुचित निज दृष्टि से जिनको
मानते हो बन्धु मन्दिर मात्र।
साम्प्रदायिकता यहाँ नित्य होती ध्वस्त,
और शिक्षा प्राप्त होती है
सभी धर्मों के सहज समभाव की
सीखते हैं यहाँ आकर लोग
मूल्य जीवन के
महत आदर्श श्री हनुमान के।

नौ अगस्त

बड़ा ही गौरवशाली दिन है,
यह हमारे इतिहास का।
बापू ने एक मंत्र पढ़ा,
अंग्रेजों, भारत छोड़ो।
हतबल वे चले गये,
भारत छोड़कर।
विभाजित कर गये देश को,
क्योंकि कुछ नेताओं को।
सत्ता प्राप्त करने की उतावली थी!
आज आया है,
फिर वह नौ अगस्त !
पिचके गाल धँसी आँखों वाले
ये स्वतंत्रतासंग्राम सेनानी
झंडा उठाये
शहीदों के खून से सनी,
माटी हाथों में लिये
लाट साहब के सामने,
मुँह जोहते उनका
खड़े हैं विनम्र।
सन् बयालीस के ये तेजस्वी सेनानी
बापू के मरजीवा सिपाही

लाट साहब के सामने खड़े हैं नतशिर
कैसा दिव्य दृश्य है !
इनकी पेंशन सरकार ने
बढ़ा दी है।
अब इनको तीन सौ नहीं
प्रतिमास चार सौ मिला करेंगे।
कितना बड़ा सम्मान है
इन बलिदानी वीरों का
कितनी उदार है
यह हमारी सरकार !
अंग्रेज गये अंग्रेजी बरकरार
स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों !
देखो नौ अगस्त को,
अपने को,
अंग्रेजी परस्त इस सरकार को !

पन्द्रह अगस्त

तिमिर चीर कर पारतंत्र्य का शतियों का दुर्दान्त,
यह अगस्त पन्द्रह की ऊषा उदित हुई अक्लान्त।
लाल किले पर फहरा अपना ध्वज तिरंग द्युतिमान,
किया अनुष्ठित फिर स्वदेश ने विश्व-विजय अभियान।
विश्व विजय अभियान अहिंसा, शान्ति प्रेम का नव्य,
प्रकटा बापू की वाणी में सत्य सनातन दिव्य।
देखा धरती ने विस्मित हो एक नया अवतार,
जिसमें ईसा और बुद्ध सब लगते एकाकार।
उसे देखकर शमित दलित था दमन-दैत्य का नाद,
अंगरेजी साम्राज्यवाद की सेना का उन्माद।
संगीने झुक गईं हुए तोपों के भी मुँह बंद,
विफल हो गये सकल विदेशी शासन के छलछंद।
किन्तु विभाजन की पीड़ा से था वह व्यथित महान,
सोच रहा था, व्यर्थ हो गया सब उसका बलिदान।
दुःसह थी वेदना, तड़पते थे रह-रह कर प्राण,
भीष्म सदृश उसका भी था क्या इच्छा मृत्यु-विधान?
हे पन्द्रह अगस्त ! गांधी के तपस्त्याग साकार !
तुमने हमको स्वतंत्रता का दिया महत् उपहार।
किंतु निहारो तो, गांधी के सब आदर्श विचार,
किये तिरस्कृत नेताओं ने, है स्वराज्य निःसार।
ग्रामों की है भूख-प्यास की पीड़ा अभी न शान्त,

नगर-नगर में फुटपाथों का है जनजीवन क्लान्त।
नाबदान के कीड़ों-से जीते हैं अब भी लोग,
असमय जीवनदीप बुझाते शिशु-युवकों का रोग।
पराधीन हैं और दीन हैं जनभाषायें सर्व,
बोलो कैसे करें तुम्हारे आने पर हम गर्व।
आये तर तुम जिन वीरों का शोणित-सिंधु अमेय,
हाय ! न उनके चरित रह गये हैं समाज में गेय।
भूले शत शहीदे-आजम सब जो रह कर निष्काम,
बना गये हैं इस धरती को फिर से महिमाधाम।
अब तो सत्ता का स्तव ही जीवन ध्येय अशेष,
हे पन्द्रह अगस्त ! अविभाजित कर पाओगे देश ?
जो अज्ञात अगीत रहे बनकर स्वराज्य की नींव,
जन जन में कर दो फिर उनकी तुम चेतना सजीव।

लोकतंत्र का महापर्व

लोकतंत्र का भव्य पर्व
सम्पन्न हो रहा आज
लखनऊ महानगर में।
सड़कों पर चल रहीं कतारें
बसों, ट्रकों, ट्रैक्टरों आदि
वाहनसमूह की-
लादे हुए लोक जीवन की
लोकतंत्र की रचना करने वाली
कठपुतलियाँ असंख्यक!!
सूत्रधार जिनको ले जा रहे मंच पर
अथवा सभा भूमि पर
लक्ष्य-अलक्ष्य सूत्र शत्-शत्
थामे अपने समर्थ हाथों में।
नहीं टूटता है ताँता
इन कठपुतली ढोने वाले
वाहन समूह के महाव्यूह का।
मेरे जैसे जन
न पार कर पाते सड़क कदापि
किसी विधि।
बच्चों के स्कूल बंद है,
बीमारों को दवा प्राप्त करना भी

दुष्कर, अति दुष्कर है,
विस्फारित दृग देख रहे जन
महापर्व यह लोकतंत्र का।
सफल हो रही अर्थनीति
अपने शासन की।
कितना धनी देश है अपना
देखेंगी ये लोकतंत्र की
भारधारिणी कठपुतलियाँ अनगिनत!
सड़कें गेटों से सज्जित हैं,
बीसों क्विंटल फूल हलाक हो गये हैं
उनकी रचना में-
कट आउट हैं कितने ही ये खड़े
गांधी युग के परवर्ती
अज्ञात शीलकुल नेतागण के-
हैं सेवा की पुण्यमूर्ति जो
कहे जा रहे अखबारों में।
यह वैभव विलोक
लज्जित हैं
अमरीका, जापान आदि सब
क्या अब भी कोई
कह सकता है कि
गरीब देश है भारत।
इसी नगर की
जानी-अनजानी गलियाँ

सैकड़ों हजारों हैं
जिनमें दुर्गंध, नरक
की सड़न और दुर्गन्ध
दलित करती फैला करती
है क्षण-क्षण।
वहीं आज महमह करता है
पुष्पगंध से
हजरत महल पार्क स्वागत में
अपने महामहिम मंत्री-समाज, का नेतागण का।
शत् शत् वात्यायें सुगंध की
विचर रही हैं।
कल से ही अभिषेक हो रहा
लोकतंत्र के महापर्व का!
बोडो लोगों ने
बीसों निरीह नागरिकों का कर वध
अभिषेक किया है,
भव्य पर्व का लोकतंत्र का!
ट्रेनों के यात्री
डाकू, चोरों के हाथों मुक्ति सहज ही पा जाते हैं
लोकतंत्र के महापर्व की बलिवेदी पर
प्राणदान निज देते रहते
सुख पाते हैं।
ट्रेनों ने कर वृध्दि किराये की
कंसेशन दिया उनको उसके हित।

और उधर देखो ऊपर
आकाश भरा है
उन अगणित प्रेतात्माओं से
आये हैं जो यहाँ देखने
महाराष्ट्र से लोकोत्सव यह,
प्रलय सदृश भूकंप-दलित
क्षेत्रों से-
जो आये कश्मीर
और जम्मू से,
हिन्दू होने के कारण
उपहार मृत्यु का जिन्हें
मिला है-
और असंख्यक जो आये हैं पूर्वोत्तर प्रदेश से
नहीं जानते वे
किस हेतु गये हैं मारे?
तड़प-तड़प मर रहे भूख से
जो असंख्य जन,
नेताओं की खुर्दबीन
जिनको न देख पाती है किंचित्
जिनको होता नहीं कफन भी
कभी सुलभ
मरने पर जग में-
उन सबकी प्रेतात्मायें जयकार कर रहीं
मंडराती हैं लोकतंत्र के

महापर्व की
इस बहुरंगी पटशाला पर–
जिसको है 'पांडाल' कहा करते नेतागण।
लोकतंत्र के महापर्व से
माँग रही हैं ये प्रेतात्मायें
अपने कुछ प्रश्नों के उत्तर !

भारतीय सैनिकों से

बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!
सत्य के, शक्ति के, मुक्ति के, सख्य और साम्य के,
शौर्य के, प्रकाश के, विकास के,
बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!
चीर अंधकार को, तैर क्षुब्ध सिन्धु को,
तोड़ विघ्न-पाश, रौंद-रौंद प्रतिशोध को,
और पदाघात से बना अचल-सचल,
बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!
ये सुदृढ़ चरण ! ये अडिग चरण!
भंग अवसाद, दूर हो गया प्रमाद है,
विगत विषाद ये बढ़ उठा निनाद है,
'विजय हमारी, ध्रुव विजय हमारी है !
बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!
फिर मिली चेतना नवीन लोकतंत्र को,
फिर मिली, घटना महान इतिहास को,
फिर मिली, दीप्ति आत्मत्याग की युवक-समूह को;
दृष्टि लक्ष्य से बँधी,
बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!
निश्चय-अनिश्चय पर आज जय पा गया,
आ गया, नया प्रभात आ गया,
कौन यह भैरवी सुना गया-
'त्याग बलिदान का पुण्य-पर्व आ गया !'

बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!
ये अभय चरण ! ये अडिग चरण!
आये पहले भी यहाँ
ग्रीक, शक, हूण, तुर्क,
अत्याचार, व्यभिचार, सर्वनाश साथ लिये,
किन्तु प्रत्याघात से हमारे छिन्न हो गए,
इस धरती के बीच खो गए,
संस्कृति की गोद में सो गए।
किन्तु आज आया है चीन वह
हमने सिखाया था मनुष्यता का पाठ जिसे,
और दिया सभ्यता का ठाठ जिसे,
भाई कहा, स्नेह और प्रत्यय अशेष दिया,
विश्व में उसे भी कुछ मान मिले, स्थान मिले,
इसके लिए ही सब मित्रों को अमित्र किया।
और आह ! कितने उदार हम,
तिब्बत की भूमिऔर जन उसे भेंट किया।
आज वह चीन, यहाँ आया है,
कम्युनिस्ट क्रूरता के पैने नख-दंत लिए,
लाखों चंगेजों की रक्त - पिपासा लिए-
हिंसा हिटलर की, असत्य गोयबेल्स का,
उसके कवच हैं-
प्रकट हुआ है कम्युनिज्म का स्वरूप वह,
नाजीवाद देख जिसे लज्जित नरक में !
आज उसी दानव के दर्प के दलन को,

भारतीय सैनिकों,
तुम्हारे बढ़ चले चरण !

बढ़ो वीर सैनिकों !
तुम हो सपूत उस विश्ववंद्य भूमि के,
जिसने दिया है जन्म
राम को, कृष्ण को, चंद्रगुप्त मौर्य को
विक्रम को, हूण-मृग-हरि यशोधर्म को,
राणा श्री प्रताप को,
शिवा को, लक्ष्मीबाई को-
तुम भी उन्हीं के अवतार हो,
कालचक्र जो अमोघ विष्णु का,
उसकी तुम्हीं ज्वलंत धार हो-
चिर शांतिकामी इस गौतम के देश की
परम सहिष्णु जनता के वह रोष हो,
जाग्रत आक्रोश हो,
प्रलयंकर रुद्र का
तीसरा नयन कहते हैं जिसे।
बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!
एक बार के उठे चरण।
ये न अब रुकें कभी,
उन्नत हिमाद्रि से शीश न झुकें कभी,
जब तक लोकतंत्र का भविष्य
विश्व में सुरक्षित न हो जाए,
चीन और तिब्बत के

पीड़ित दलित, अश्मीभूत जन-जीवन को,
दानवीय त्रास से स्वतंत्रता न मिल जाए।

तुम चलो, बढ़े चलो;
और यहाँ खेतों में तुम्हारे लिए
बांधव तुम्हारे हरी फसलें उगाएँगे
दिन-रात एक कर,

और दिन-रात, रात-दिन,
कारखाने अपने चलेंगे
न रुकेंगे कभी,
देंगे तुम्हें

साधन समग्र वे
अंतिम विजय के
इस क्रूर शत्रु पर
इस धूर्त शत्रु पर।

आशीर्वाद दे रही हैं तुमको
वीरप्रसू माताएँ तुम्हारी, सुनो-
और वीर पत्नियाँ,
दे रही हैं शक्ति तुम्हें अपने सतीत्व की-

स्नेहशीला बहनों की
राखियाँ सजाए निज वज्र-सी कलाइयों में,
बढ़ते ही जाओ वीर ! बढ़ते ही जाओ वीर,
चीरते हुए

पड़ोसी देशों को
अनीति के गहन अंधकार को

माओ और चाऊ से कह दो–
''सैनिक हैं हम षण्मुख कार्तिकेय के,
जिसने तुम्हारे ही प्रदेश के
क्रूर नरकासुर को,
उसकी असंख्य सैन्य आसुरी को,
धूल में मिलाया था।''
विजय तुम्हारी है, विजय तुम्हारी है।
सत्य और धर्म है तुम्हारे साथ !
गीता कहती है– ''उठो, युद्ध करो, विगतज्वर युद्ध करो।
क्षत्रिय को यदि धर्म-युद्ध मिल जाता है,
भाग्य जग जाता है,
दिव्य द्वार स्वर्ग का स्वयं ही खुल जाता है।''
क्षत्रिय तुम्हीं हो वीर आज इस देश के,
रक्षक तुम्हीं हो इस देश की
संस्कृति के, धर्म के, जनता
के मूल स्वाधिकार के, और लोकतंत्र के !
बढ़ चले चरण ! बढ़ चले चरण!

चित्रकूट की रेल दुर्घटना

जब देखो तब पानी
कितने कम्बख्त हैं ये हिन्दुस्तानी।
पानी नहीं है तो क्या करे सरकार,
तुम्हारी भूख-प्यास से उसे क्या सरोकार।
चित्रकूट में भीषण रेल दुर्घटना हो गई,
लोगों का अज्ञान ही तो है यह !
क्यों जाते हैं लोग चित्रकूट ?
धर्म है अफीम का घूँट
वह सिखाता है ईमानदारी,
सत्य, अहिंसा, प्रेम, समता, सहिष्णुता,
निश्छलता !
भला कहीं लोकतंत्र इनसे है चलता।
सीखो, झूठ, कपट और मक्कारी,
बन जाओ तस्कर भ्रष्टाचारी।
सीखा रूस से भी कुछ सद्गुण तुमने ?
वहाँ नहीं पानी की हैरानी।
प्यास लगती है कम,
पीते हैं, वोदका वहाँ जाते हैं जब हम।
कैसे नादान हो,
जहाँ जाओ किसी तीर्थ को, चित्रकूट हो या कोई और
वोदका की बोतलों को साथ ले जाओ,

पियो जब प्यास लगे।
अन्यथा चाय है, काफी है,
दूध है, दही है, घी है, शहद है।
क्यों तरसते पानी को ?
जब सफदरजंग में, दिल्ली में,
नहीं इनकी कमी
तो गाँवों में इनके लिए क्या गम
सीख लो अंग्रेजी,
बन जाओ सभ्य।
नहीं लगेगी कभी फिर पानी की प्यास।

अहं की कुरूपता

एक दैनिक के
　　साप्ताहिक परिशिष्ट में
अहं की कुरूपता की बात पढ़ी।
　　उससे मुक्त होने के प्रयत्न के संकेत
की व्यंजना भी समझ में आई।
　　पर उपदेश-कुशलता बहुत
अच्छी लगी, बड़ी सामयिक।
　　युग धर्म के नाते
अहं की कुरूपता भीतर बढ़ती रहे
　　बाहर ओढ़ी हुई गरिमा
के मुखौटे से झाँकती रहे
　　यही उसका सही उपचार है
यही उसकी सामाजिक उपयोगिता है।
　　आध्यात्मिक महापुरुष बनने के दो ही साधन हैं-
　　　　पैसा और प्रचार !

मनोहरा देवी और निराला की स्मृति चिन्ह
डलमऊ

महाकवि के प्रियतमा की जन्मभूमि मनोहरा,
स्मृति-सजल लगते यहाँ के गगन और वसुन्धरा।
बँधा नयनों में निराला के रहा यह ग्राम अविरत,
बाँसुरी सी रही बजती पाँसुरी की पीर संतत
सद्यस्नाता छविप्रिया की वहाँ जो देखी मधुरतर,
उसे करते रहे अर्पित आँसुओं के अर्घ्य निर्झर।
रूप, रस के गंध के जो महाकवि ने चित्र आँके,
स्पर्श के शत् शब्द के निज काव्य में जो बिम्ब टाँके।
वे उसी सौन्दर्य - निधि के रत्न हैं भास्वर अनुत्तम,
अतुल वैभव है निराली दिव्य प्रतिभा के महत्तम।
पीर-पूरित गीत जो गाये महाकवि ने निरन्तर,
चातकी भी कर न पाई है कभी संधान वे शर।
दर्द वह बेदर्द था कितना कि जब कवि ने पुकारा,
एक क्षण के लिए आओ तोड़ कर दृढ़ मृत्युकारा।
देखता तुमको रहूँगा अल्प क्षण मैं मौन अपलक,
प्रणय-जलनिधि में तुम्हारे मिटेंगे दिक् काल सब थक।
हो गई मनुहार कवि की विफल बरसा सघन सावन,
बसा प्राणों में व्यथा का वही ओघ अनन्त असहन।
महाकवि के प्राण वह पीड़ा न हाय ! सम्हाल पाये,
गले पल-पल, घुले तिलमिल, मेघ ज्यों विद्युत छिपाये।

दिशात्रय को घेर बहती यहाँ सुरसरि धार पावन,
शेष जीवन के लिए पाथेय यह कवि का गई बन।
चन्द्रबिम्ब सदृश हुआ जो नील लहरों में तिरोहित,
रहे अन्तिम श्वास तक उनको यहाँ छवि खोजते नित।
श्मशान घाट समीप टीले पर महाकवि हो अवस्थित,
सोचते क्या प्रिया यह जल-भेद होगी दृष्टि किंचित्।
अंत में ये स्वप्न सब खोये रहे नित नयन रोये,
स्मरण-धन से रहे कर में शिशु अबोध उभय सँजोये।
अंत में फिर एक बार हुआ विषम शोकाब्धिदोलित,
हो गई सहसा सरोज ज्वलित चितानल को समर्पित।
उस दावानल की अमेय असह्य ज्वालायें जलीं तब,
कवि-कला के सौध का अक्षय प्रकाश बनीं वही अब।
हैं 'सरोज-स्मृति' अखिल साहित्य-जग की भूति अनुपम,
डलमऊ ! तुमको न क्षण भर भूल पायेंगे कभी हम।

रेल की एक रात

सत्य क्या है ?
गति अगति किंवा ?
कहा है श्रुति ने-
दो पखेरू रह रहे हैं
यहाँ पीपल की अनश्वर डाल पर,
एक बैठा ही रहा करता सदा,
नहीं चलता, नहीं खाता, नहीं पीता, नहीं सोता-जागता
वह सहज कूटस्थ।
दूसरा उड़-उड़ दिशा-आकाश में
भोगता सुस्वादु पीपल के
असंख्य-असंख्य फल।
वह उड़ा करता सदा,
नहीं लेता वह कभी विश्राम,
सीमा के असीम प्रदेश में,
घूमने से वह कभी होता नहीं उपराम।
उसी शैलानी पखेरू - सा
घूमता है सतत नीलाकाश,
घूमते हैं सूर्य, शशि, नक्षत्र,
यह धरती,
शस्य-श्यामल खेत,
फल के भार से नमित वृक्षावलि,

हरित वनराजि,
सर, सरि, सिंधु-विश्व विराट्।
और मैं कूटस्थ -
अंशतः कूटस्थ -
नहीं जा सकता कहीं मैं
छोड़ अपनी डाल रेल के डिब्बे सदृश
आवास अपना,
और भी मेरी तरह के
हैं यहाँ !
बहुत से कूटस्थ पक्षी,
यहीं चलते, यहीं खाते, यहीं पीते-
यहीं उठते-बैठते-
रेल की माया बनाती इन्हें भी कूटस्थ।
सतत गति के बीच हम
कैसे अगति के दास -
पूछते गतिशील से रह-रह धरा-आकाश।
तोड़कर अपनी अगति के पाश,
बन सकेंगे क्या कभी हम भी
एक टेक की एक लय की,
सतत गति के इस महासंगीत की ?
अथवा क्या रुकेगी जब कि गति की रेल
ठहर जायेंगे दिशा-आकाश,
तभी आयेगा
हमारी इस अगति का अंत,

प्राप्त होगा तभी निज गंतव्य ?
कौन जाने सत्य क्या है -
गति अगति किंवा ?
या कि गति औ' अगति दोनों के परे,
सत्य है कुछ और,
गति-अगति के युग्म में
जिसका हमें
मिला करता है सहज आभास।
क्या सदा मधुपूर्ण है वह,
निखिल गतियाँ हैं भरी मधु-से उसीने
जो सतत अक्षीयमाण ?
आत्मसमस्वरता हमें हो प्राप्त यदि
इस अगति की और गति की
विषमता के बीच,
प्राप्त हो सकता तभी सोमपूरित कलश वह-
मर्म वह ब्राह्मणस्मृति का,
देह जिसको पा
अमृत का स्वर्ण-घट बनते।

कुँआर

ढलने लगा कुँआर शरद की शोभा दिशि-दिशि छाई,
जुते मयाये खेत पड़े हैं उतर चाँदनी आई।
पाया नया उभार सँभाले फिर जुआर क्यों यौवन,
सरल प्रेम के अभिनय होते खड़ी अखवन की वन।
बेहद फूले - फले उड़द उर में किसान इतराया,
नये बीज बोने का अंतर में उल्लास समाया।

x x x x

किंतु अचानक उमड़-घुमड़ कर घिरे चीतले बादल,
कातर क्रन्दन मान-मनौती का न हुआ कुछ भी फल।
खेतों में सैलाब, हुई सारी मेहनत नादानी,
गई खरीफ फिरा आशा पर हाय रबी की पानी।

कातिक

कातिक की भुरहरी रात शुक्रोदय का क्षण,
खेतों में है मुखर गाँव वालों का जीवन !
गूँज रहा सब ओर भजन का, विरहों का स्वर,
बैलों की घुँघुरुओं घंटियों का स्वर मंथर ।
हार हुए तैयार बुवाई की ऋतु आई,
नवोल्लास की लहर कास-कुस तक में छाई।

x x x x

लिखता है हल विजय-लेख श्रम का धरती पर,
त्रयोदशी का चाँद हँसा हँसिया - सा ऊपर !

अगहन गया

अगहन गया ले गया अवशिष्ट शरद का वैभव,
आया पूस, शीत ने पाई शक्ति और यौवन तब !
सिकुड़ा दिवस, मिलन कुहरे से रात, वात ठिठुराई,
बढ़ते हुए शस्य की चारों ओर श्यामता छाई।
पछुआ पड़ा प्रचण्ड बरसने लगा निरंतर पाला,
जड़ धरती ने भी ओढ़ा है दुहरा हरा दुशाला !

x x x x

पर इन गाँवों में रहते हैं बहुसंख्यक नर-नारी,
तन पर वसन न अन्न पेट में-जीवन है लाचारी !
ये पुआल की सेज बिछा कर आसमान ओढ़ेंगे,
और सुबह से उदर-पूर्ति हित साग-पात जोड़ेंगे।

हेमन्त

आज कुपित हो शीत चलाता है पछुआ के कोड़े,
ठिठुर रहे हैं गात, हड्डियों को देता है तोड़े।
फैल रही सब ओर निरंकुशता, निर्ममतम शासन,
उपल और हिम से विचलित हो अंग-भंग है जीवन।
मूर्च्छित है मन क्षुधा-क्षीण तन, मूक हो रही वाणी,
जड़ीभूत तरु, लता, पर्ण तक जीवन्मृत हैं प्राणी।

x x x x

पर, निश्चय है रह न सकेगा यहाँ यह हेमन्त,
फूल उठी है सरसों, देखो, आया निकट वसंत !

पूस का दिन

पौ फटते घिर आये गहरे भूरे धौरे बादल,
कुहरा पड़ा बरसता आता दिशा-दिशा से काजल !
घर-घर से अलाव जल-जलकर धुँआ उगलते जाते,
गाँव-खेत-खलिहान-बाग-वन नहीं नजर कुछ आते।
एकरूप है अंधकार में खेतों में हरियाली,
छिपी मटर, गेहूँ, जौ, अरहर सबकी छटा निराली !
केवल फैली हुई क्षितिज तक सरसों पीली-पीली,
जाग रही दीपक की लौ-सी देती तनिक उजाली।
ठिठुर रहे हैं लोक शिशिर से जड़ीभूत है काया,
इस कुसमय में खेतों में हिलती किसकी है छाया !
x x x x
यह तो अधनंगी नारी है नहीं पेट में दाना,
बच्चे चार, बीन कर बथुआ, जिनकी भूख मिटाना।

माघ की रात

निठुर माघ की रात ठिठुरती है पत्थर की काया,
सना शिशिर में सुन्न पड़ा है जग-जाड़े की माया।
तारे अपलक आसमान की आँखें हैं पथराई,
प्राण - हीन लोटती चाँदनी धरती पर मुरझाई!
घने कुहासे के परदे में नज़र नहीं कुछ आता,
सर्राटा भरता पछुआ का झोका आता-जाता।

x x x x

केवल जलता हुआ दूर पर एक अलाव अकेला,
जाग-जाग कर जगा रहा है सन्न-शून्य यह वेला।
ताप रहे हैं काँप - काँप कुछ खेत सींचने वाले,
इस मेहनत पर सुखी सो रहे महलों में मतवाले !

फागुन

पकने लगे खेत सरसों के चलने लगी कटाई,
आशा की मुसकान किसानों के होठों पर छाई।
भूख-शीत से सूख रही थी जिनकी जीवन-धारा,
उनका भी उल्लास उमड़ अब छाने लगा करारा।
ले सरसों का नया तेल रूखी अलकों में डाला,
पहनी वधू-बालिकाओं ने लाल ढाख की माला।
परदेशी लौटा चुम्बनों की चढ़ी चौगुनी रोली,
बैठ आम की छाँह लगे गाने नारी - नर होली।

x x x x

पर यह क्या? नभ ने कैसे निष्ठुर नयनों से हेरा,
दोनों की दुनिया पर क्यों यह महाप्रलय का फेरा।
पश्चिम से उठ लाल बादलों ने बरसाया ओला,
फूटा हाय दैव के उर का आकर यहाँ फफोला।
बुझी चिताओं से लगते हैं खेत, नहीं है दाना,
बिलख रहे सब बाल-वृद्ध भोजन का कहाँ ठिकाना।

गाँवों में जाड़े की रात और प्रभात

दो चित्र

(१)

भुरहरी रात गिरते हैं टूट-टूट तारे,
लहरों में बेबस बुझते जैसे अंगारे।
है जमा शीत से ताल हिला पछुवा जाता,
खेतों में खड़ा अनाज काँपकर मुरझाता।
पाला गिरता ही रहा रात भर एक तार,
सब अचल खड़े हैं जड़े गाँव, वन, बाग, हार।
झुलसे जा रहे मटर, आलू, सरसों, अरहर,
भावी के भय से कंपित है किसान का उर।
कूँ-कूँ करते पिल्लों-से बच्चे पड़े पास,
जाड़े से लड़ने की पयाल ही एक आस।
जीवन भर जुटा न सके रजाई या कंबल,
अब इस महँगाई से लड़ने का रहा न बल।

(२)

पाला पड़ता रहा शाम से ठिठुर गयी थी रात,
डरता-डरता बहुत देर से झाँका हाय ! प्रभात !
कूँ - कूँ करते रहे रात भर शिशु पयाल को ओढ़,
महँगाई -भुखमरी लगाये हैं घर-घर में होड़।

कुहरा पड़ने लगा सुबह से गोठिल हुई निगाह,
नहीं दिखाई पड़ती खेतों में जाने की राह।
बथुआ साग बीन कर भरती हूँ बच्चों का पेट,
वह साधन भी आज हो गया इस दुर्दिन की भेंट।
कुहरे में टिमटिमा रहे हैं ये सरसों के फूल
यही कह रहे आओ-आओ, राह न जाना भूल।
इस सर्दी में दस्तक देते दरवाजे पर रोग,
बड़े कठिन दिन पूस माह के जियें किस तरह लोग।

एक दृश्य

आगि बड़वागि ते बड़ी आगि पेट की

धर्मनिरपेक्षता की राजधानी
दिल्ली।
लोकतंत्र की अलमबरदार दिल्ली !
लोकतंत्र, इसी दिल्ली के कारण,
जी रहा है देश में
प्रातःकाल हो गया है
दिल्ली आ गई है।
मेल ट्रेन किसी व्यवधान के कारण धीरे-धीरे
नयी दिल्ली जंकशन की ओर बढ़ रही है
दोनों ओर दूर-दूर तक
यह विशाल नगरी फैली हुई है।
याद आयी हनुमान जी की
देखी हुई लंका -
'चारु पुर बहुविधि बना।
पर अब ट्रेन ऐसी जगह से
जा रही है
जहाँ दोनों ओर झुग्गी-झोपड़ियाँ हैं
रेलवे लाइन के बीच के अवकाश,
उनके आसपास,
झुग्गी - झोपड़ियों के

विसर्जन -स्थान हैं !
कुछ बालक झुग्गियों से
निकल
रेलवे लाइन पर कुछ खोजते हैं।
शायद कहीं कुछ मिल जाये पड़ा हुआ
रुपया, अठन्नी, पैसा-धेला भाग्य से।
एक सात-आठ साल के बालक को
एक अधखाया सेब
मिल जाता है-
उसके पास ही
किसी यात्री का मल पड़ा है।
बालक सेब उठा लेता है,
अपने मलिन जाँघिये में उसे पोंछता है।
और खाने लगता है-
नहीं, नहीं, खाता नहीं है।
शायद पेट की आग से मजबूर
दाँतों से जल्दी-जल्दी काट-काट कर
उसे निगल रहा है।

मलजीवी

सबेरे से ही
महानगर की सड़कों पर गलियों में
लंबे-लंबे झाड़ू लेकर
विचरने वाली ये नारियाँ !
घर-घर जाकर
शौचालय साफ करती हैं,
धोती हैं
जहाँ जलप्रवाह शौचालय नहीं हैं
वहाँ के मल अपने हाथों से साफ करती हैं
सर पर ढोती हैं !
उनमें वह सब कुछ है
जो किसी अभिजात नारी में
होता है, होना सम्भव है !
पर वे मलजीवी हैं -
दूसरों का मल कमाकर
अपना, अपने बच्चों का
पालती हैं पेट !
यही उनकी रोजी रोटी का
साधन है !
समाज दृष्टिहीन है,
राजनीति हृदयहीन है

कुलिश कठोर ?
लोकतंत्र घिनौना छल है -
धनिकों का षड़्यंत्र है !
जन प्रवंचना का विराट तंत्र है!
केवल गांधी ने कहा था-
''प्रतिजन अपना मल
स्वयं कमाये
स्वयं साफ करे-
दूसरों के द्वारा
यह करवाया जाना
ऐसे मजबूरों की जाति बनाना
मानवता का कलंक है।
गांधी ने स्वयं यह किया
उनके अनुयायी भी करते रहे ?
पर लोकतंत्र के नये कर्णधारों
की माया अपरंपार है !
वे गांधी को शैतान का
बच्चा कहना चाहते हैं।
गांधी को गाली देकर
मलजीवियों की जाति बनाये रखकर,
उनके वोट लेना चाहते हैं-
'जानि न जाय निसाचर माया।

लावारिश लाश

(१)

महानगर की रेलवे स्टेशन की सीढ़ियों के पास
जिनके आगे दर्जन भर टिकटघर हैं, जहाँ
जन-प्रवाह समुद्री ज्वार की तरह
प्रतिक्षण चढ़ता, बढ़ता रहता है
वहीं, हाँ वहीं पड़ी है
यह लावारिस लाश।
मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं,
पेट फूल गया है,
सारा शरीर विकृत हो रहा है।
इधर-उधर, कुत्ते
घात लगाये घूम रहे हैं।
लोग उसे देखते हैं,
दहशत से, घृणा से, उपेक्षा से/और
चुपचाप मुँह फेर लेते हैं।
कुछ लोग सहृदय रहे होंगे, वे
लाश के पार्श्व में
पैसे भी रख गये हैं-मृत्यु देवता के चढ़ावे के रूप में।
लो, किसी शरीफ ने
उस पर एक चादर डाल दी
ढक गई मौत की वीभत्स तस्वीर
मौत को भुलाने - बहलाने का एक पुराना सम्मानित रिवाज।

(२)

कहते हैं युधिष्ठिर ने
यक्ष- प्रश्न के उत्तर में कहा था
लोग प्रतिदिन मरते हैं, मरते ही रहते हैं
पर बाकी लोग सोचते जान पड़ते हैं कि स्वयं वे कभी नहीं मरेंगे,
और वे कफन-ढके शव की अर्थी को
श्मशान घाट पर पहुँचाकर/चुपचाप लौट आते हैं

(३)

किन्तु आज सवाल दूसरा है :
एक लावारिश लाश को जिसकी मृत्यु का कारण और रहस्य
अज्ञात है
ढो कर ठिकाने पहुँचाने - लगाने की व्यवस्था
कौन करेगा?
यह लाश
न हिन्दू है, न मुसलमान
न ईसाई, न पारसी
वह सिर्फ लाश है, आदमी की।
और उसके चारों ओर आदमियत की
लाशें चल फिर रही हैं।
और आदमियत। इस लावारिश लाश की तरह सड़ रही है।
आदमियत की लाशें एटम बम बना रही हैं
भयंकर संहारक अस्त्र-शस्त्र

खरीद बेच रही हैं, बिकवा रही हैं;
वे
अन्तर्राष्ट्रीय आतंक, और अन्तरिक्ष युद्ध के
इरादों और संकल्पों को
स्वच्छन्द बढ़ावा दे रहीं, भड़का रही हैं।

कूड़ाजीवी

सुना था शैशव में
अपने प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में
रहते हैं ऐसे अभागे
जो गोबर से दाने बीनकर
पालते हैं पेट अपना !
काँप जाता था मेरा मन
सुनकर यह।
सुधी जन कहते थे
अन्न - धन देश का
लूटकर ले जाते हैं
अंग्रेज अपने देश को।
इसीलिए भुखमरी का
दावानल
जल रहा है देश में
गाँव - गाँव, घर - घर।
पर अब तो अंग्रेज चले गये हैं
अपनों का शासन है,
नेताओं और जनसेवक
नौकरशाहों का राज्य है।
फिर भी आज देखता हूँ प्रतिदिन
इस महानगर लखनऊ में और दिल्ली में

जहाँ हमारे लोकतंत्रीय शासन के
प्रमुख केन्द्र हैं,
जिनके बहुविज्ञापित
समाजकल्याण विभाग के बड़े-बड़े अधिकारी
दिन - रात रात - दिन
समाज के कल्याण के लिए
दीनों - दलितों के उद्धार के लिए
वातानुकूलित कक्षों में बैठकर
ऊँघते, जम्हाते, बतरस की
गंगा में नहाते रहते हैं।
अंग्रेज शासकों के ये उत्तराधिकारी
फाइलों को चपरासी और
लिपिक के हाथ से
ग्रहण करने के श्रम के भार से
पसीना - पसीना होते हुए
अपना दयनीय जीवन जी रहे हैं।
बँगलों में रहते
कारों पर चलते हैं, वे
और करें भी क्या बेचारे !
यही उनकी नियति है।
इसी लखनऊ में
अनेकानेक अरबपति भी रहते हैं,
जिनकी विशाल धर्मशालायें,
हजारों - हजार रुपये प्रतिदिन

भगवान के नाम पर
कमाकर उन्हें देती हैं,
बाहर - भीतर शराब की नालियाँ बहती हैं
और उनकी नालियों का गंदा पानी
सड़कों को गंदगी और
फिसलन से भर देता है।
बेचारे गरीबों के लिए
इन सड़कों पर आवागमन
ऋतुओं के अनुक्रम से
दुःसह से दुःसहतर हो जाता है।
वहीं मैं देखता हूँ, रोज यह दृश्य,
अनेक वस्त्रहीन भूखे शरीर वाले
बूढ़े, जवान, बच्चे, जाड़ा हो या बरसात,
सबेरे कंधे पर बोरे लादे,
कूड़ेदानों से, कचरे के अंबारों से,
गन्दी नालियों से,
अपना पेट भरने का साधन
जुटाने के लिए
रद्दी कागज, फटे - पुराने लत्ते
और न मालूम क्या-क्या जो अग्राह्य
और अस्पर्श्य है
बीनते, छोटे-बड़े
बोरे लटकाये,
कूड़ा बटोरने की

होड़ लगाये दिखाई पड़ते हैं।
ये बच्चे, ये जवान
ये बूढ़े आदमी और बूढ़ी औरतें
स्वतन्त्र भारत के अभिज्ञान हैं !
राष्ट्र की उत्तरोत्तर प्रगति के
चलते-फिरते
प्रमाणपत्र हैं, ये कूड़ाजीवी !
लोकतंत्र की सफलता के साक्ष्य हैं,
ये कूड़ाजीवी !
सरकारी योजनाओं के कुशल कार्यान्वयन की
अचूक पहचान हैं, ये कूड़ाजीवी !
प्रश्न है, नालियों में
बिलबिलाते कीड़ों में
और इन कूड़ाजीवियों में
किसका जन्म सार्थक है ?

कल्कि

ऊपर नभ पर
नीचे भू पर
यह कोटि-कोटि मार्तण्डों का
दुःसह प्रकाश भरता जाता।
अगणित अणुओं के खंडन का
है, तेज मलिन !
हैं, दशों दिशायें कंपमान।
यह अश्व कौन सा है, चिन्मय
जिसका हेषारव-प्रलयगान ?
उसकी टापों से आहत हो
नभ के निःसीम महातरु से
विच्युत हो गिर-गिर पड़ते हैं,
तारागण, चन्द्र, सूर्य शत्-शत्
खग पोतों से हो प्राणरहित !
उस दिव्य अश्व पर समासीन
है कौन दिव्य पावकविग्रह ?
है खड्ग अग्निजिह्वा समान।
तूणीर पृष्ठ पर है विलसित
जिसमें बैठा है महाकाल,
बाँयें कर में है धनुष
क्षितिज-छूते नभमंडल सा अराल ?

वह उतर रहा है अव्याहत
दृढ़ गति।
शंकित कंपित हैं अचल सकल
चूर्णीकृत होकर बिखर रहे
है राशि-राशि पाषाण-खंड
ये दंदशूक-से उद्धत -फण
निःश्वसित स्फीत ताण्डवित विकट
सिंधु के तरंग समूह कोटि
उठ - उठ स्वागत को हैं तत्पर !
सत्ता के ऊँचे से ऊँचे सिंहासन ये
जिनके नीचे हैं, पड़े हुए
अधिकाररहित
मानवता के क्षत-विक्षत शव-
नागर जीवन की सुख-सुविधा के
स्वल्प स्वत्व से भी वंचित।
फुटपाथों पर जो कीड़ों से
जीते-मरते, भूखे-नंगे,
जो रंग भेद का विष पी-पी
जीते हैं, बनकर भिखमंगे -
शक्ति के विवर्द्धन में उद्धत
खल राजनीति के संचालक
हैं, झोंक रहे जिनको अविरत
युद्धों के दानव के मुख में।
अणुशस्त्रों के निर्माता जो,

जो जन-जीवन के हत्यारे
जो ध्वस्त कर चुके स्वार्थ हेतु
जीवन के उच्च मूल्य सारे-
जिनकी काली कोठरियों में
संचित होता है, कालाधन-
उन सबको दंडित करने को
जन-जन की बनकर शक्ति प्रबल,
यह उतर रहा है
पावक के हय पर चढ़कर
कल्पान्त घोर !
होते जाते हैं
दुष्कर्मों के दुर्गम दुर्ग धराशायी !
अवतरण कल्कि का प्रलयकल्प दुर्दर्शपरम
देखो, देखो, वह दूर क्षितिज पर
उदित हो रही है
नवयुग की अरुणाई !

बोलता गधा

‘बोलता गधा’ नाटक की
प्रस्तुति की प्रशंसा
‘संस्कृति दर्पण’ में पढ़ी।
मैं भी तारीफ करने को
विवश हो गया हूँ।
कारण, ‘बोलता गधा’ की
प्रस्तुतियों में
राजनीतिक मंचों पर,
कवि सम्मेलनों में,
साहित्यिक संगोष्ठियों में
आज के सभा और संसद के जन प्रतिनिधियों के भाषणों में
और लेखो में
देखता, सुनता, पढ़ता आ रहा हूँ।
बहुत दिनों से
कम से कम एक दशक से
तो निश्चित रूप में
बोलता गधा के अनेकानेक
नये-नये पर्याय निर्मित होते
जा रहे हैं।
भाषा के विकास की यह
प्रक्रिया अभिनंदनीय है

एक प्रश्न

ऋतुराज कौन है ?
क्या बसंत ?
नहीं नहीं, वह काम का क्रीड़ा-सहचर,
अनंग की तरंगों का प्रसारक,
कामिनियों का क्रीड़ामृग,
किसी भोगवादी इन्द्र के संकेत पर
महर्षियों के तपभंग को
अपना पुरुषार्थ मानने वाला,
गुलाब की कलियों की चटकारी सुन जागने वाला
और नित्य नव प्रमदाओं के
अंक के पर्यंक पर सोनेवाला विलास गलित बसंत
ऋतुराज कैसे हो सकता है?
नैतिक जीवन के अरण्य के दाहक का सखा,
तपस्या के मूल्य-मानों के विध्वंसक का सहयोगी,
पुष्पासव पी मदान्ध बना बसंत
ऋतुपति कैसे हो सकता है ?
ऋतुपति तो ग्रीष्म है,
वृष राशि के प्रचण्ड मार्तण्ड का,
महापुरुषों महासतियों के
उत्कट अनमनीय प्रज्ज्वलंत तप का
एकमात्र प्रतिमान -
यह ग्रीष्म ही ऋतुराज है।
यह दुर्द्धर्ष लू चलाकर
कामी कामिनियों के कमनीय कलेवर को जलाता है

यही भू से अंबर तक धूल उड़ाकर
कामुक दृष्टियों में काँटे-कंकड़ सा
कसकता - करकता है।
कायर, कपूत कामुक कवियों के कुल को
तहखानों, खसखानों, पहाड़ों की
विलास नगरियों में शरण
ग्रहण करने की प्रेरणा देता है।
ग्रीष्म तो देवव्रत भीष्म का रूप है,
त्याग, तप और तितिक्षा से ऊर्जित,
श्वासोच्छ्वास ही उसका जीवन है,
उसकी सत्ता का सार है।
आग उगलते आकाश के नीचे,
तवा - सी तप्त भूमि पर
अमंद विचरता, अखंड शासन करता
ग्रीष्म ही ऋतुराज है।
यही सागरों को तपाता है
उनके खारे जल को पीयूष रस में बदलकर,
विद्युत्वलयित मेघमाला बनकर
आकाश में छा जाता है।
हृदय-हृदय के सिंहासन पर इसे प्रतिष्ठित करो
राष्ट्र जीवन में इसका अभिषेक करो
बन जाओ जनता के अभावग्रस्त
जीवन से एकरूप
अव्याहत त्याग की
और अपरिग्रह की भूमि पर
देश और समाज का नवनिर्माण
अभीष्ट है, यदि।

प्रकृति और विज्ञान

प्रकृति
कितनी नयन - अभिराम
साम्राज्ञी परम सौन्दर्य की !
मेघमालाएँ अनन्त दिगन्त - विस्तृत,
केश हैं उसके सघन, लम्बे, धरा छूते !
        पाँग उसकी ग्रथित
तारों के असंख्यक मोतियों से।
रूप की है, आगरी
त्रिगुणात्मिका यह नागरी
प्रज्ज्वलित करती शिखायें
अनगिनत व्यामोह की।
जल रहे हैं जैसे लोग जिसको देख
अति असहाय, अति निरुपाय !
घूमता है पवन पागल - सा
लगाने को हृदय से
पाने को चरम सुख स्पर्श का,
बाँधने को बाहु के निज पाश से उद्दाम।
और धरती पर असंख्यक
        गंधवात्यायें रही हैं घूम -
अति उद्भ्रान्त, परम अशान्त,
और इसके उमड़-उमड़ असंख्य अर्णव

पग रहे हैं चूम !
दृष्टि के निक्षेप से
उठती तरंग सभंग
लक्ष-लक्ष अनंग की।
'रसो वै सः, रसो वै सः, रसो वै सः'
कह रहे हैं खोज उसको उभय भोगी और योगी।
कोटि कंठों में उसी की मुखर है वाणी-
शुक के, पिकवृंद के कंठ में,
भ्रमर के गुंजन, मधुरतम गान में,
उर्वशी, रंभादिकों के तरल तान-तरंग में
है विधाता की परम रमणीय
अद्भुत सृष्टि यह।
रच सका है कौन ऐसा रूप,
इसका है कहाँ प्रतिरूप ?
शक्ति यह मायामयी परमेश की
अनाधृष्य सदा रही यह,
है दुरत्यय वेग और प्रभाव इसके रूप का।
मुग्ध होकर लुब्ध होकर,
दैत्य-संघ विराट् जग के
दृप्त सब सम्राट्,
चाहते अधिकार पाना
इन अनन्या सुन्दरी पर।
विविध आविष्कार मारक
कर रहे हैं सतत् वे विज्ञान के !

भेजते रहते निरन्तर
ध्वनि-तरंगों, रविकरों से भी अधिक गतिमान
शान्ति करते भंग जो नित रोदसी की।
अंतरिक्ष महाविपिन में
खिल रहे हैं
ज्योति के शत्-शत् सुमन जो उडुगणों के, बीन
उनको तोड़ और मरोड़
मर्दित कर पदों से -
चाहते हैं ध्वंस का नित नव रचाना नाट्य।
चाहते अणु के विषैले वाण
बरसाना धरा पर वे गगन से !
हाय ! पर दुर्मति अभागे दैत्य ये
जानते यह नहीं -
किया है अतिचार जब-जब प्रकृति पर
दानवों ने इस तरह का,
हो गये हैं नष्ट वे सब कर महासंग्राम
स्वयं आपस में,
सुन्द - से, उपसुन्द - से,
उत्तमा तिल-तिल प्रकृति यह
रही अपराजेय।

मानव और चन्द्रमा

अंतरिक्षजयी मानव ने
कहा हँस चन्द्रमा से –
''खर्व हो गया न अब गर्व वह,
मानते थे परम-चरम रूपवान तुम
और अधिष्ठान सौंदर्य का निज को
भोले कवियों की भ्रान्त कल्पना के बल पर !
हो न क्या तुम एकमात्र
ज्वालामुखियों के बुझे गह्वर, अशिवरूप,
अवशेष सूखे घने वनों के कुरूप अति,
दृष्टि-दाहकारी मरुभूमियों के विस्तार ?
कौन सुंदरी है अब
चाहेगी सुनना यह प्रियतम के
मुख से चन्द्रानना हो तुम ?
कोई शूर्पणखा भले ही चाहे
तुमको बनाना उपमान निज मुख का,
शिव भी उतार फेंक देंगे तुम्हें शिर से।''
सुनकर वाणी अहंकार भरी मानव की
मुसकाया चन्द्रमा –
फैल गई ज्योत्स्ना दिशाकाश में,
शीतल हुए त्वरित प्राण धरा-नभ के।
बोला वह –
'हम भी धरती के पुत्र हैं

तुम्हारे जैसे बंधु मेरे
बड़ी वेदना से जननी ने हमें जाया था,
जानते हो क्या तुम वह वेदना सृजन की ?
अर्थ और काम का बना है
अनुगामी जो
वही विज्ञान तुम्हें विपथ बना रहा।
जानते हो भूतद्रव्यचय की
द्वैतता का सत्य तुम,
जानते नहीं हो चिर चेतना का,
भावना का सत्य तुम,
चिन्मय अद्वयता का संवेदना का उत्स जो।
स्रोत है तुम्हारा उर
घृणाजन्य घोर संघर्ष का।
श्वापद है मन में तुम्हारे
गृद्ध दृगों में -
बैठे अणु शस्त्रों की
ज्वालामुखियों के मुख पर भी,
गर्वित हो इतने ?
सत्य इस सृष्टि का और मेरा
जानता है एक कवि।
और जानते हैं शिव !
जाओ कश्मीर को
देखो वहाँ, भाल पर
व्योम से विशाल अमरनाथ के

मैं ही हूँ विराजमान।
आना चाहते हो क्या
तुम फिर मेरे लोक को ?
अब चन्द्रलोक
तभी आना बन्धु ! तुम
जब यह विश्व एक नीड़
बन जाए मानवता का।

वर्तमान

प्रगति-पथ पर चल रहा है दृप्त मानव आज,
और पीछे चल रही है रात, काली रात !
दीप पर गिरते पतिंगों सा विवश असहाय,
मरण का त्योहार मानव रच रहा निरुपाय।
शुष्क होते जा रहे करुणा-दया के स्रोत,
बुद्धि में हिंसा - घृणा का तिमिर ओतप्रोत।
घिस गई संवेदना की सहज शाणित धार,
मनुजता की नहीं सुनता मनुज आज पुकार !
जा रहे नक्षत्र - लोकों तक मनुज के यान,
आणविक संहार के साधन लिए अतिमान।
गगन में लहरा रहे विज्ञाननिर्मित व्याल,
धरा पर विष -बीज नित नव बो रहा है, काल।
सिंधु - लहरों में घुला है कालकूट अकूत,
कर रहे शासन जगत पर व्याघ्र, वृक, यमदूत।
भूख की पीड़ा विषम सहते करोड़ों लोग,
यंत्रणायें विविध रोगों की रहे जन भोग !
खरबपतियों के खड़े उस ओर वे प्रासाद,
पल रहा जिनमें निरंतर नग्न भोगोन्माद।
मृत्यु के निर्यात में हैं निरत जन दिन-रात,
शान्ति की है बात केवल कूटनीतिक घात।
बन सकेगा क्या कभी यह विश्व नीड़ महान्,
रहेंगे जिसमें निरापद मनुज एक समान।

पोहिक बे

ऊँचे, सीधे, भव्य ओक तरु
हरित श्याम अभिराम,
मौन साधना में हैं कब से
निरत यहाँ निष्काम।

ऊँचे-ऊँचे उठती धरती
की द्रोणी यह रम्य,
आंतर जीवन की सुषमा
का लगती पुलकित हर्म्य।

इसके बीच रूपसी
प्रौढ़ा पोहिक बे अभिजात,
लेटी है निज मृदु करतल
पर रख कपोल अवदात।

उसके उर के मृदु स्पंदन सी
उठ वीचियाँ अराल,
अविरत गूँथा करतीं लघु-
लघु मुक्ताओं के माल।
इसके तन पर खिलते

शत-शत रवि किरणों के फूल,
पहनाता है नभ छाया को
नित नव नील दुकूल।

नभ में तिरते श्वेत घनों की
छायायें सुकुमार,
हंस-शावकों सी उड़ती हैं
ऊपर पंख पसार।

कभी ज्वार बनकर जगता है
उसका भावोच्छ्वास,
तुंग तंरगों में नर्तित हो उठता
है उल्लास।

शीश हिला भूरे पत्तों के मिस
ये ओक विशाल,
भीतर-भीतर झूम-झूम रुक देते
लघु-लघु ताल।

कुछ तरुणों के युग्म कर रहे
जल में विपुल विहार,
एक युगल सीगल का उड़-उड़
आता बारम्बार।

यन्त्रित नौकाओं की गति के
अनियंत्रित आघात,
सिहरा देते बार-बार
इस जल का कोमल गात।

पोहिक बे के सम्मोहन से
अब भी पुलकित प्राण,
हो उठते उच्छ्वसित
रूप के, रस के बन कर गान।

प्रशान्त महासागर के तट पर

प्रशान्त महासागर
सोया है कुंडली मारे महानाग की तरह
उसकी निर्विष साँसें जल-तल पर
हल्के धूम सी तैर रही हैं।
किनारे खड़े हैं
छोटे-बड़े अनेक जलयान
कुछ निष्क्रिय
केवल प्रदर्शनार्थ
कुछ सक्रिय भी।
पुलिन पर नीरनिधि के आगुन्तकों,
दर्शनाभिलाषियों के लिए
प्रस्तर आसन्दियाँ
करीने से सजाई गयी हैं।
अपने स्वल्प प्रवासकाल में
हम लोग प्रतिदिन यहाँ आकर
महासागर के दर्शन करते हैं।
यह सैन फ्रांसिस्को नगर
दूर-दूर तक समुद्र तट पर
फैला हुआ है।
सैनफ्रांसिस्को के साथ जुड़ी
हैं स्मृतियाँ सर्वस्व त्यागी
लाला हरदयाल की
और देश की स्वतंत्रता के

लिए अमेरिका की भूमि पर
युद्धरत गदर पार्टी की।
कुछ दिन पूर्व यहाँ अग्निकाण्ड
हुआ था : भूकम्प आया था,
उसके अवशेष यत्र-तत्र अभी
दिखाई पड़ते हैं-
जले हुये शरीरों की विकल त्वचा जैसे।
संसार के सबसे बड़ी जलनिधि के तट पर
बसा नगर जलता रहा-
वारिनिधि देखता रहा,
जलते हुये प्राणी
विवश से, अनन्त महासागर
की क्रूरता देखते रहे होंगे-
सचमुच जड़ है यह जलधि
ऊपर से दूषित अंतर की धार कठोर।
तीन दिन भगवान राम
अन्न-जल छोड़कर
कुशासन पर बैठे
प्रार्थना करते रहे थे, दक्षिण भारत के समुद्र-तट पर,
यह पसीजा नहीं, नहीं ही पसीजा
इस प्रशान्त महासागर की जड़ता पर
विचार करते हुये सोचता हूँ;
सभी जलधि जड़ होते हैं एक जैसे।
सोच रहा हूँ जलनिधि है ही
पर अमेरिका के हजारों
महासागर के अधिवासी

सम्भवतः भूल गये हैं,
मनुष्य की धड़कन, वक्षस्थल के भीतर
हृदय भी होता है-
हम बैठे समुद्र को देख रहे हैं-
तभी एक लम्बी काया
झब्बर झोल लगता है
वहाँ आती है-
सुई आँखों से हम लोगों को देखती है
फिर शान्तभाव से उठ कर
एक कूड़ेदान में अपना हाथ
उड़ेल देती है-
कुछ उच्छिष्ट हाथ लगता है।
एक आधी पी कोक की बोतल भी
उसको मिल जाती है।
उसे गट-गट पीकर
उठ कर चल देती है
वह काया निर्लिप्त भाव से।
डालरों के जलनिधि का
अधिवासी यह अमेरिकन
आधी पी कोक के बोतल से
अपनी प्यास बुझाने
की - शायद नाकाम
कोशिश करता है।

अमेरिकी जीवनानुभूति के कुछ क्षण

यह अमेरिका है–
टैनिसी की राजधानी
नैशतिल का
उपनगर मरफ्रीसबोरो।
आत्म–पतझर – का
आगमन हो गया है–
लता–वृक्ष पत्रशून्य होते जा रहे हैं–
डालें नंगी हो गयी हैं।
किसी भोगवादी संस्कृति
के स्त्री – पुरुषों के समान।
कब आयेगा वह वसंत
जो इनकी नग्नता को
शील और मर्यादा को
बहुरंगी तरंगवती पत्र–पुष्पावलि से–
विभूषित करेगा–
इनकी कुरूपता ढक जायेगा।
पर यह कब आयेगा
कौन जाने।
अवरोध बहुत हैं न।
सत्ताधिकारियों में प्रकृति
पर सत्ता स्थगित
करने की ललक बढ़ती
जा रही है,

होड़ लगी हुई है।
विज्ञान की प्रगति
का प्रतीक यंत्र आराध्य है-
मनुष्य त्याज्य।
वह जघन्य होता जा रहा है-।
सामने स्थानीय और राष्ट्रीय
अनेक अखबार पड़े हैं।
पढ़ता हूँ-
एक अमेरिकी नागरिक
बच्चों का कोमल
यकृत - कलेजा -
और दिल बड़े चाव से
खाता है।
बच्चों को मारकर
फ्रिज में उनके कोमल अंग
संचित कर रखता है।
कभी पका कर
और कभी कच्चा ही
खा जाता है, उन्हें।

x x x

एक नवयौवना सुंदरी
की गाथा पढ़ता हूँ।
वह तीन बच्चों की माँ है-
अपने पति को तलाक देकर
नया व्याह रचाने के लिए अपने

तीनों बच्चों को तालाब में डुबो देती है
नये पति की प्रसन्नता के लिए।
सोचता हूँ
अपने देश में वर्षा
बीत चुकी होगी-
डगर-डगर, गली-गली, नगर-नगर,
गाँव-गाँव, खेत-खलिहान बाग - हाट - सब
ज्योत्स्ना में नहा गये होंगे!
उसका पदचार प्रफुल्ल
कमलों-कुंजलयों के रूप में
सरोवरों के वक्ष पर अंकित हो रहा होगा।
उसके आँचल की छाया में सृष्टि
दुग्ध और अमृत पी रही होगी।
पपीहा की पीहा
ब्रज की लताओं की विरह-सभा को
प्रतिध्वनित कर रही होगी।
कोकिल भी स्वर-संगति साध रही होगी।
धरती माता परिवार परिसीमन के
उद्घोष की चिंता किये बिना
अपनी छाती पर असंख्य अंकुर
से रही होगी !
भारत ! काश तुम
भारत ही रहते,
अमेरिका न बनते !

मैकाले के आँसू

भारत में अंग्रेजी भाषा की दासता के जनक
मैकाले के आँसुओं में भीगने का सौभाग्य
मुझे अपनी पिछली लंदन यात्रा में मिला।
मैकाले ने अपने पिता को कलकत्ता से
लिखा था, एक ऐतिहासिक पत्र -
मैं सकुशल तो हूँ, मुझे यहाँ ईसाइयत के विस्तार की चिन्ता है।
अत्र यदि अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा का ठाठ खड़ा किया जाय,
तो यत्र-तत्र जो दूषित देव-मंदिर दिखाई पड़ते हैं-
वे गिरिजाघर हो जायेंगे।
भारत में कोई मूर्तिपूजक बचेगा नहीं।
यह धरती सर्वत्र ईसाइयत की चरागाह बन जायेगी।
लंदन में मैं इस महान् भविष्यवक्ता की
जन्मभूमि खोजने लगा
उसकी कब्र की टोह लगाने लगा।
इस शोध अभियान में मुझे लंदन में दो विशाल कृष्ण-मंदिर मिले
जहाँ गूँजता था अनवरत 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण हरे राम' का गान-
एक जगह मुरारी बापू की राम कथा हो रही थी।
आश्चर्य विमुग्ध मैं देखने लगा चकित चतुर्दिक्-
यह मेरा दिवास्वप्न है, मतिभ्रम है या इंद्रजाल !
मैकाले की पतित - पावन भूमि में
कृष्ण मंदिर, राम की कथा !

विश्वास नहीं रहा अपने पर -
भयभीत था,
पागलखाने की हवा न खानी पड़े।
मैं भाग चला !
अनतिदूर एक कब्रिस्तान दिखाई पड़ा
आत्मरक्षार्थ उसमें घुसा, चेस्ट नट के एक छतनार पेड़ के नीचे
उनके बीच दुबककर बैठ गया
सहसा वृक्ष से कुछ लाल आँसू गिरे !
रक्त मिश्रित अश्रु कहाँ से आये यहाँ ?
ऊपर देखा एक मोटी सी डाल पर
एक अभौतिक प्राणी बैठा है, रो रहा है।
मेरे नेत्रों की त्रस्त जिज्ञासा देखकर बोला-
मैं ही मैकाले हूँ, दोस्त !
मेरी ही कब्र तो तुम खोज रहे हो ?
'तुम रो क्यों रहे हो महान मैकाले ?'
''तुम देखते नहीं, मेरे लंदन में भी
मूर्ति-पूजा होने लगी है।''

लंदन में

क्या यह वही लंदन है ?
वही लंदन है यह ?
दिगन्त विस्तृत
उस ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी
जिसके विषय में
गर्व से यह घोषित किया जाता था,
सूर्य इसकी सीमा में अस्त
होने का साहस नहीं करता !
टेम्स नदी के मुहाने पर
उपनिवेशवासियों का रक्त
असंख्य-असंख्य पौंडों में,
अपरिमेय सोने-चाँदी में
बदल कर इतने जलयानों में
भर-भर कर आता था
जिनकी गणना करना असंभव था।
ब्रिटिश चैनल की लहरें
गिनना और
ब्रिटिश साम्राज्य के
अधीन देशों की
संपदा लूट कर आने वाले
जहाजों की गणना
करना एक जैसा

दु:साध्य कर्म था।
इसी लंदन की समृद्धि की वृद्धि के लिए
भारत के शिल्पियों के अँगूठे काटे गये थे,
इंग्लैंड के लिए सोने की खान बन गये थे, वे।
इस लंदन के भ्रूभंग
इसके द्वारा शासित
क्षुधादलित जनता के महासमुद्र में
आतंक और त्रास की
तरंग पर तरंग
उठाया करते थे।
इसी लंदन की रक्तलिप्सु दंष्ट्राओं से
शासित जनों का श्रम-स्वेद
रक्त बनकर चूता रहता था।
क्या यही वह लंदन है?
दृप्त बकिंघम पैलेस, मदोन्मत्त
पार्लियामेंट भवन, डाउनिंग स्ट्रीट,
टेम्स तट, हाइड पार्क आदि
सब लगते हैं उदास निराश,
दामिनी दलित अभ्रंचुंबी महासौध से।
इसके विशिष्ट औद्योगिक प्रतिष्ठानों पर
गर्व से लहरा रहा है झंडा अमरीकी।
ब्रिटिश सरकार की पुलिस के डंडों से आहत और मुमूर्षु
लाला लाजपत राय ने कहा था-
''मेरे सिर पर जितनी लाठियाँ पड़ी हैं,
एक-एक वे ब्रिटिश साम्राज्य के

ताबूत की कीलें हैं।'

मैं देख रहा हूँ,

उनकी भविष्यवाणी का

यह रूप सत्य और साकार।

पर अब मैं लंदन से थोड़ी दूर पर

देख रहा हूँ, एक सारस्वत-ज्योतिपुंज।

सरस्वती के एक महीयान वरपुत्र

महाकवि शेक्सपियर का जन्म -ग्राम-

स्ट्रैट फोर्ड आन एवन।

ब्रिटिश साम्राज्य के व्यतीत दिग्दाह में।

यह ग्राम शीतल प्रलेप सा,

शारद राका बन उदित है

जो कभी मलिन नहीं होगी,

प्रकाशित रहेगी रात-दिन, दिन-रात !

शेक्सपियर की प्रतिभा और

काव्य कला के वैभव का प्रताप-सूर्य

सर्वदा रहेगा विश्वभर में

अनंत काल ज्योतिर्मान।

वह एक क्षण के लिए भी

अस्त नहीं होगा कहीं और कभी।

मंडेला
(अटलांटिक महासागर में स्थित ठंडा वीरान राविन द्वीप)

अँधेरा ही अँधेरा सब ओर
धरती पर, सभी दिशाओं में
नक्षत्र बुझे हुए -
लगता था जैसे सब के सब
हमेशा के लिए फूँक मार कर बुझा दिये गये हैं।
चाँद सूरज सब बुझे हुए
उनके ऊपर कालिमा पर्त दर पर्त
पत्थर की चट्टानों सी जमी हुई।
इनके भीतर भरे हुए कुलिश के गढ़े हुए
कोटि-कोटि कूट शस्त्र-अस्त्र,
कालकूट उगलती अनवरत
घोर अँधेरे की काली कुरूप कृत्यायें।
कालिमा की ऐसी -ऐसी खानें
लक्ष - लक्ष रौरव नरकों की
यातना प्रतिदिन प्रतिक्षण
जहाँ जन्म पाती थी,
यंत्रणा खोद-खोद कर निकाली जाती थी।
इस अँधेरे में उत्पीड़न का
कालकूट पीते हुए,
लड़ते रहे मंडेला अट्ठाइस वर्षों तक निरंतर,

प्रस्तर की खानों से फौलादी पत्थर निकाल कर
उन्हें तोड़ते हुए।
हार नहीं मानी मंडेला ने फिर भी !
उनके अंतर्मन में
प्रज्ज्वलित थी गांधी की स्मृति,
उनके सत्याग्रह का आदर्श
जो अनुष्ठित हुआ था
दक्षिण अफ्रीका में सबसे पहले।
कितनी यंत्रणायें सही थीं
गांधी ने, उस युगपुरुष ने !
पग-पग कितना अपमान !
सत्य पर दृढ़ रहने का
वह आदर्श
सत्य की विजय में विश्वास,
यही संबल था मंडेला का,
अश्वेतों की मुक्ति के लिए किये गये
इस विराट जीवनव्यापी आंदोलन के,
गहन अभेद्य अंधकार में
अंततः सूरज निकला !
आधी रात को उसे
जमीन फोड़कर निकलना ही पड़ा।
दक्षिण अफ्रीका के घने अँधेरे से भरे
जंगल प्रकाश से नहा गये।
नैतिकता, शाश्वत मानव मूल्य,

साम्य, सख्य और स्वातंत्र्य
की किरणों से दिशाकाश भर गये !
मानव के इतिहास
ने ली है एक नयी करवट !
लगता है क्या धरती
पर उतरा है एक
युग नया !
गांधी, मंडेला जैसे
तपोयोगियों के रूप में,
विश्व भर में सर्वत्र
पुनरुज्जीवित हो उठें-
आकांक्षा है यह इतिहास की,
इस युग के

आचार्य (डॉ०) कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

(प्राक्तन प्रोफेसर हिन्दी विभाग एवं अधिष्ठाता कलासंकाय, बड़ौदा, जोधपुर तथा मगध विश्वविद्यालय)

जन्म तिथि : शरद पूर्णिमा सं. १६६७ वि., १८ अक्टूबर सन् १६१० ई.

कृतियाँ : समालोचना ग्रंथ-नाटककार भारतेन्दु और उनका युग, हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परंपरा और भारतेन्दु, गोविन्द हुलास, अक्षयरस।

काव्य प्रभाकर किंवा रुक्मिणी हरण, भुजकच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला, शोध साधना, शिवकवि कृत दौलतबाग विलास, हिन्दी नाट्य साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, हिन्दी शोध समस्यायें एवं समाधान आदि।

सम्पादित- पं. कृष्ण बिहारी मिश्र ग्रन्थावली आदि।

नाटक- कविकुल गुरु, जनकवि जगनिक, कविवर नरोत्तमदास, पाँच एकांकी, आचार्य चाणक्य, अग्नि परीक्षा, तुलसीदास, स्वराज्य की जननी।

काव्य- शंपा, मेघमाला, बा और बापू, प्रतिपदा, अपराजिता, विजया, रामदूत (महाकाव्य), यजुर्वेद काव्यानुवाद, सामवेद काव्यानुवाद। वृन्दावन (खंडकाव्य) ऋतंभरा, संकट मोचन (महाकाव्य)

अनुवाद : ऐन आउटलाइन आफ मेटाफिजिक्स का हिन्दी अनुवाद, उज्ज्वल नीलमणि।

पुरस्कार : उ.प्र. हिन्दी संस्थान के 'भारत भारती' पुरस्कार से सम्मानित।

सम्पर्क सूत्र : २/२२, त्रिवेणीनगर, सीतापुर रोड, लखनऊ-२२६०२०

घनमाला

(आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के गीतों का अन्तिम संग्रह)

सम्पादक
प्रो0 शिव मोहन सिंह

लोकभारती प्रकाशन

लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग
प्रयागराज–211 001

वेबसाइट : www.lokbhartiprakashan.com
ईमेल : info@lokbhartiprakashan.com

शाखाएँ : 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली–110 002
अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने
पटना–800 006
36 ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता–700 017

प्रथम संस्करण : 2022

ग्राफिक क्रिएशन्स प्रा.लि.
प्रयागराज द्वारा मुद्रित

GHANMALA
Edited by Prof. Shiv Mohan Singh

ISBN : 978-93-93603-11-1

मूल्य : ₹ 600/-

प्राक्कथन

'घनमाला' कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह की काव्य–साधना का अन्तिम 'गीत–संग्रह' है। इस गीत–संग्रह का प्रकाशन भारत की स्वतंत्रता के अमृत महोत्सव वर्ष में किया जा रहा है। इसमें कुल 75 गीत संकलित हैं। इन गीतों में कुछ गीतों को छोड़कर प्रायः वे सभी गीत संकलित हैं, जो 'ऋतम्भरा' (1978) के प्रकाशन के बाद रचे गये हैं। इस संग्रह के समस्त गीतों की भाव–भूमि छायावादी है। इन गीतों के भाव, भाषा, शैली, छंद, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि में छायावाद के उत्कर्षकाल में रचे गये गीतों के तेवर विद्यमान हैं। अन्तर है तो केवल इतना कि इस संकलन के गीतों में उस काल का–सा भाव–विस्तार विद्यमान नहीं है, परन्तु छायावाद युग में रचे गये गीतों का सम्पूर्ण काव्य–वैभव विद्यमान है। इस संग्रह के छोटे–बड़े लगभग 50 गीत और कविताएँ ऐसी हैं जिनमें कवि की जीवन व्यापी व्यथा–कथा साकार हुई है। विषय वस्तु की दृष्टि से हम 'घनमाला' के गीतों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

(1) छायावादी भाव–भूमि के गीत।
(2) कवि–जीवन की कथा–व्यथा के गीत।
(3) विरह–वेदना के गीत।
(4) नवगीत शैली के गीत।
(5) यथार्थवादी गीत।
(6) अनुभूति परक मुक्तक।

इस गीत–संग्रह का पहला गीत 'जय हिन्दी' गीत है। इस गीत को यहाँ 'वन्दना' गीत के रूप में संकलित किया गया है। यह गीत कुँवर जी के दूसरे कविता–संग्रह शम्पा में संकलित है। शम्पा में संकलित इस गीत की रचना का एक इतिहास है। यह तथ्य किसी हिन्दी–प्रेमी से छिपा नहीं है कि सन् 1936 ई0 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का वार्षिक अधिवेशन काशी विश्वविद्यालय में आयोजित हुआ था। राष्ट्रपिता महात्मागाँधी चाहते थे कि

इस अधिवेशन में हिन्दी को हिन्दुस्तानी घोषित किया जाये और देव नागरी लिपि में कुछ सुधार किये जायें। इस उद्देश्य से काका कालेलकर की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि–मण्डल काशी भेजा गया था। इस प्रतिनिधि मण्डल में भारत रत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद भी एक सदस्य थे। हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाये जाने के प्रस्ताव का विरोध करते हुए बाबू श्यामसुन्दर दास ने ऐसा ओजस्वी तथा तेजस्वी वक्तव्य दिया था, जिसके कारण यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका था। कुँवर जी ने बाबू श्यामसुन्दर दास के इस वक्तव्य से प्रभावित होकर यह गीत रचा था। इस गीत में हमारे राष्ट्रगीत की समस्त विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसीलिए इस गीत को इस संग्रह में वंदना–गीत के रूप में स्थान दिया गया है।

छायावादी कवियों ने प्रेम और सौन्दर्य के साथ–साथ प्रकृति पर सर्वाधिक गीतों तथा कविताओं का सृजन किया है। इसीलिए छायावाद को प्रकृति–काव्य की संज्ञा भी प्रदान की गयी है। हिन्दी–समीक्षा पन्त को प्रकृति का चतुर चितेरा कवि मानती चली आ रही है, परन्तु यदि छायावादी कवियों द्वारा प्रकृति पर रचे गये गीतों तथा कविताओं का तटस्थ रूप से अनुशीलन किया जाये तो पता चलेगा कि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ही छायावादी कवियों में प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। कारण यह है कि कुँवर साहब का प्रकृति–चित्रण स्वानुभूति परक तथा स्वाभाविक है। इन गीतों की परिवेश–सजगता तथा मानवीय संवेदनाओं से उनकी तदाकारता में एक अद्भुत आलोक है। इन प्रकृति गीतों की जीवन्तता जिसे हम प्रकृति में चेतना का आरोप भी कह सकते हैं, ऋग्वेद के उषा वर्णन से प्रभावित प्रतीत होती है। भारतीय महीनों पर लिखे गये उनके गीत अतुलनीय हैं। कुँवर साहब के ऋतु सम्बन्धी गीत अपने पूरे परिवेश की सजगता तथा जन–जीवन से संयुक्त होने के कारण अपना प्रभाव छोड़ने में अधिक सफल हैं, छायावादी कविता में बादलों पर सर्वाधिक गीत तथा कविताएँ रची गई हैं। निराला को प्रायः बादलों का कवि कहा गया है, परन्तु कुँवर साहब ने बादलों पर निराला से अधिक गीतों तथा कविताओं की रचना की है।

निराला के काव्य में यदि बादल क्रान्ति का प्रतिमान बनकर आया है तो कुँवर जी के बादल इस जग के ताप–शाप हारी बनकर आये हैं। 'घनमाला' के दूसरे गीत में कवि की अध्यात्म–भावना विज्ञान का अतिक्रमण करती हुई प्रतीत होती है। विज्ञान मानता है कि बादल सागर से उठने वाली भाप से आकार लेता है और पानी बरसाता है, परन्तु कवि मानता है कि 'वे (बादल) सागर से नहीं, स्वर्ग से नवजीवन प्लावन' लाते हैं। कवि कहता है– 'अति चेतन के शीर्ष–शिखर पर, इनका है अधिवास मनोहर'। ध्यातव्य है विज्ञान कभी काव्य का विषय नहीं बन सकता आध्यात्म तथा दर्शन काव्य से वहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। वहीं स्वर्ग से उतर कर वे 'धरित्री के प्रांगण पर सोम सुधा की वृष्टि करते हैं। कवि के बादल 'सत्य, वृह्त, आनन्द रूप' हैं, वे ही ऋतु के संवाहक हैं। वे चरम सत्य के परम तीर्थ में' इस संसृति को नहलाने वाले हैं। बादलों की अलौकिकता को रेखांकित करते हुए कवि लिखता है–

अन्तर्ज्ञान गहन ये चिन्मय,
कर देंगे जीवन अकुतोमय,
असत्, तमस पर और मृत्यु पर,
जय पा नित नव सरसायेंगे।

प्रकृति पर चेतना के आरोप का यह गीत सर्वात्मवाद का सर्वोत्तम उदाहरण है। ये चिन्मय बादल एक अपराजेय योद्धा की भाँति 'असत, तमस पर और मृत्यु पर' विजय प्राप्त कर, वे इस जीवन को निर्भय कर देंगे। 'अकुतोमय' शब्द द्वारा निर्भय बनाना ही इस संसृति को अजातशत्रु बनाना है। यहाँ बादलों में चेतना के आरोप द्वारा बादलों के मानवीकरण की चेतना इस गीत को अमर बनाती है।

इसी क्रम में यहाँ कुँवर जी द्वारा 'नवगीत शैली' में रचे गये एक गीत का विश्लेषण देना अनिवार्य समझ रहा हूँ। हिन्दी में आदिकाल से नारी के सौंदर्य पर असंख्य पंक्तियाँ रची जा चुकी हैं, परन्तु नारी का रूप और सौंदर्य आज भी अपनी सम्पूर्णता में आँका नहीं जा सका है। इसी विवषता का उल्लेख करते हुए बिहारी ने लिखा था कि– ''लिखन बैठि जाकी सबी

गहि–गहि गरब गरूर, भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर। छायावाद के प्रायः सभी कवियों– निराला, प्रसाद पन्त तथा महादेवी वर्मा ने प्रेम और सौंदर्य पर जमकर लिखा है, परन्तु कुँवर जी द्वारा नारी के रूप और उसकी शारीरिक कान्ति तथा तरुणाई से बेसुध तरुणी की अंग–भंगिमाओं का यह गीत कवि की सौंदर्यांकन की कला का अन्यतम उदाहरण है–

रूप वह शिशिर–सुहानी धूप !
सरसों के फूलों सी जगमग
तन की कान्ति अनूप !
अंग–अंग में बलखाती–सी थी बेसुध तरुणाई,
लहर उठाती ज्यों गेहूँ के खेतों में पुरवाई,
अथवा जैसे गंध लुटाती फागुन की अमराई––
चकित दृष्टि कुंदों की सुषमा–सरि
की थी प्रतिरूप।
चिकने काले घुँघराये आगुल्फ विलम्बित केश,
मानों निशि ने जीत लिया हो दिन का ज्योतिर्देश,
अवगुंठन रचता था शशि का नित नूतन परिवेश–
हाय कहाँ वह गया
रह गया मैं स्मृतियों का स्तूप।।

नारी का रूप प्रकाम्य है। वह परमपिता परमात्मा का रूप है। इसे ही हम नारी की सुन्दरता कहते हैं। निराला लिखते हैं कि– ''सुन्दर को सभी आँखें देखती हैं, उसे अपना सर्वस्व दे देती हैं। क्यों देखती हैं, क्यों देती हैं, इसका वहीं कारण है जो जलाशय की ओर जल के बहाव का।'' परन्तु नारी के रूप की इस प्रकाम्यता से आगे बढ़कर कवि कहता है कि– रूप शिशिर ऋतु की सुहानी धूप है। रूप में एक अलौकिक सुखदायी ऊष्मा होती है जो परम सुहानी है। तरुणाई में नारी की शारीरिक कान्ति सरसों के फूलों की भाँति जगमग करने वाली होती है। तरुणी की शारीरिक कान्ति के लिए 'सरसों के फूलों' सी जगमग उपमान सर्वथा अनूठा और अनछुआ है। सरसों के फूल घने कुहासे में भी अपना आलोक बिखेरते रहते हैं। नारी की इसी कान्ति के कारण कहा जाता है कि यह लड़की ऐसी है कि रात में घर में दिया

नहीं जलाना पड़ेगा। नारी तमसो मा ज्योति–र्गमय का प्रतिरूप है। 'अंग–अंग में बलखाती तरुणाई का उपमान भी उतना ही नया और अनूठा है। तरुणाई के कारण तरुणी की अंग–भंगिमाओं का उपमान है' लहर उठाती ज्यों गेहूँ के खेतों में पुरवाई'। यहाँ धान के खेतों में पुरवाई द्वारा लहर उठाने की बात नहीं कही गयी है। कारण है कि शिशिर–ऋतु में धान की खेती नहीं, गेंहूँ की खेती होती है। तरुणाई का ऐसा चाक्षुश बिम्ब अपने आप में अनूठा है। कवि कहता है– 'अथवा जैसे गंध लुटाती फागुन की अमराई। यह दूसरा उपमान स्थूल के लिए सूक्ष्म उपमान है, परन्तु इस सूक्ष्म उपमान की अनुभूति घ्राण और त्वचा से होती है। कारण यह है कि अमराई की गंध पवन के सहारे फैलती है। इसलिए इसका संस्पर्श भी होता है। कवि आगे कहता है कि जैसे कुन्दों से खिले हुए सरोवर की सुषमा मोहक होती है, उस तरुणी का रूप उसी के अनुरूप है। अन्तिम अनुच्छेद में तरुणी के नख–शिख का वर्णन है, जिसने कवि के लिए अपने अवगुंठन में शशि का एक नया लोक ही रच दिया था। परन्तु जब वह रूप जीवन से चला गया तो तब वह स्मृतियों का स्तूप मात्र रह गया है। रूपवती तरुणी इस जग में दुर्लभ है। है तो वह स्मृतियों में ही रहती है।

इसी क्रम में मैं कुँवर जी के प्रकृति–चित्रण के एक ऐसे गीत पर विचार करना चाहता हूँ जो भारत के ऋतुचक्र से सम्बन्धित है। हमारे देश का ऋतु चक्र (ऋतु परिवर्तन) विश्व विख्यात है। हमारे कवियों ने शटऋतुवर्णन तथा भारतीय महीनों के आधार पर जो प्रकृति चित्रण किया है वह अतुलनीय है। हम सभी जानते हैं कि माघ के बाद फागुन का महीना आता है जिसके आगमन की सूचना हमें बसन्त के आगमन से मिलती है। माघ महीने में जब बादल छाते हैं, और घना कुहरा पड़ता है, तब चारों ओर घना अंधकार छा जाता है। वन, बाग, हार सब तिमिराछन्न हो जाते हैं। इस स्थिति में सर्दी इतनी पड़ती है कि दिन ठंड़ के कारण ठिठुर जाते हैं। कुहरे के कारण कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता है। इस घने कुहरे में खेतों में खिले हुए सरसों के फूल ही अपनी पीतिमा के कारण दूर से दिखलाई पड़ते हैं। कवि की कल्पना है कि सरसों के फूलों की किरण–ज्योति मानों इस ठिठुर रहे दिन (संसार) को ठिठुरन से रक्षा के लिए बसन्त को पाती लिखती है और अपनी व्यथाएँ हरने का आमंत्रण भेजती है। प्रकृति के इस आह्वान का क्या प्रभाव होता है, वह इस गीत में देखा जा सकता है–

दिन ठिठुर रहा, कुहरे के–
बादल छाये।
वन, बाग, हार सब हैं, घन तिमिर छिपाये।
सरसों के फूलों की यह टिम–टिम बाती,
है, किरण ज्योति की केवल वही जगाती,
वह भेज रही लिख–लिख वसंत को पाती।
आओ हम सब मिल–
जग की हरें व्यथायें।
आह्वान सुना, ज्वाला किसलय बन जागी,
ऊर्जित पलाश ने वन में आग लगा दी,
बेला ने अपनी विगल हँसी बिखरा दी,
मंजरियों ने सौरभ के गीत सुनाये।

इस गीत को छायावाद का सर्वश्रेष्ठ गीत कहा जा सकता है। ऐसा गीत हिन्दी के छायावादी में आज तक नहीं रचा जा सका। यहाँ प्रकृति में चेतना का आरोप है। मानवीकरण के सौंदर्य का संश्लिष्ट बिम्ब कवि के काव्य–चक्र वैभव का उत्कृष्ट उदाहरण है। भारत का ऋतु प्रकृति परिवर्तन में साकार होता है। माघ महीने में पतझड़ और पतझड़ के बाद किसलयों का वृत्त पर आना एक स्वाभाविक क्रम है। कवि कल्पना करता है मानो सरसों को फूलों की किरण–ज्योति का पत्र पाकर बसन्त जग की व्यथा हरने के लिए ज्वाला बन जाता है और वही ज्वाला ऊर्जित होकर पलाश के फूलों के खिलने से जैसे वह प्रज्ज्वलित होकर धधक उठती है। जब इस अग्नि ने संसार की ठिठुरन हर ली तब बेला के फूलों के रूप में चतुर्दिक प्रसन्नता का प्रसार हो जाता है। इस गीत की सांगता कवि–कल्पना का अच्छा उदाहरण है। महाकवि तुलसीदास के बाद कुँवर जी सांग रूपक के अन्यतम कवि हैं। उनके महाकाव्यों के सांग रूपक तुलसीदास को चुनौती देते प्रतीत होते हैं। कुँवर साहब छायावादी कविता को उषा के समान चिर नवीन मंगल क्रांति मानते हैं। कवि का विश्वास है कि छायावादी कवियों द्वारा जैसी कविताओं का सृजन किया गया है, वैसी कविताएँ हिन्दी की किसी काव्य–प्रवृत्ति में नहीं रचीं जा सकीं हैं, परन्तु कुण्ठाओं की कोठरियों के अधिवासी, ये अंधकार जीवी

बर्बर, निर्लज्ज नंगे (पत्रहीन) हिन्दी के समीक्षक छायावाद की इस मंगल क्रान्ति को नहीं समझ सके। कुँवर साहब छायावाद के विरोधी आचार्यों को देख चुके थे। उन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे रस–ग्राही आचार्य को कक्षा में छायावादी कवियों को खुले आम गाली देते सुना था, परन्तु अपने आचार्य का प्रतिवाद करने का साहस वे नहीं कर सके थे। दुखद यह कि आचार्य शुक्ल के बाद भी छायावादी कविता को समुचित आदर नहीं मिल सका। निराला के बाद अवसर पाकर इसीलिए छायावाद को शताब्दी व्यापी व्यक्तित्व प्रदान करने के बाद छायावाद के आलोचकों पर प्रहार करते हुए लिखते हैं–

कुंठाओं की कोठरियों के अधिवासी,
संत्रासों के श्वापद चिर तिमिर–विलासी,
है जिन्हें आत्म निर्वासन की प्रिय फाँसी,
वे त्रपाहीन जन पत्रहीन बन भाये।
वे देख न पाये मंगल क्रान्ति उषा –सी–
स्वर्णिम किरणों से ये चर–अचर नहाये।

कवि कहता है कि छायावादी कविता उषा के समान चिर नवीन मंगल क्रान्ति है, जिसकी स्वर्णिम किरणों से सम्पूर्ण चर–अचर अनुरंजित है। परन्तु हिन्दी समीक्षा संकुचित मनोवृत्ति के कारण कुण्ठाग्रस्त है, निर्दयी तथा क्रूर है। इसीलिए वह छायावादी कविता के सौंदर्य का साक्षात्कार नहीं कर सकी।

छायावाद के विरोधियों पर इससे करारा प्रहार आज तक किसी भी आचार्य ने नहीं किया। आज यदि आचार्य शुक्ल जीवित होते तो उन्हें याद आ जाता कि छायावादी कविता का विरोध करना तथा छायावादी कवियों को गाली देने का परिणाम क्या होता है?

प्रेम और सौंदर्य तथा प्रकृति सौंदर्य के गीतों के अतिरिक्त 'घनमाला' में कवि के जीवन की व्यथा–कथा के गीत पर्याप्त संख्या में संकलित हैं। इन गीतों में अधिकांश गीत–कवि की विरह–वेदना के गीत हैं। इन्हें हम कवि के वेदना–दर्शन के गीत कह सकते हैं। परन्तु यदि हम प्रसाद के विरह–वेदना के गीतों तथा कविताओं से कुँवर जी के गीतों और कविताओं की तुलना करते

हैं तो हमें पता चलता है कि यदि प्रसाद के विरह–वेदना के गीत परकीया प्रेम के गीत हैं तो कुँवर जी के गीत स्वकीया प्रेम के विरह–वेदना के गीत हैं। इसके पहले निराला जी भी अपनी पत्नी के वियोग में विरह–वेदना के गीत रच चुके थे। प्रसाद की विरह–वेदना एक ऐसी प्रेमिका की विरह–वेदना की व्याकुलता में रचे गये हैं जो उनकी प्रेमिका तो है, पर उनकी परणीता कदापि नहीं है। 'आँसू' प्रसाद की विरह–व्यथा का सर्वोत्तम उदाहरण है, जिसे छायावादी–समीक्षा में पर्याप्त महत्व मिल चुका है। प्रसाद के 'आँसू' काव्य का आलम्बन वह है जिसकी 'उज्ज्वल गाथा' कवि गाना नहीं चाहता है। वह, वह है जो आलिंगन में आते–जाते मुसकाकर भाग जाता है। इसके विपरीत कुँवर साहब के विरह–व्यथा के गीतों का आलम्बन वह है, जिसे कवि अपनी बाहों में बाँधकर बरसों की 'विरह–बढ़ी आहें डुबा देता है'। वह ''वासना की धृति थी। पूर्णतम लावण्य की कृति थी।'' प्राण प्रिय के प्रणय की सृति–सरित वामा थी'। वह कवि की प्राण–प्रिया पत्नी ही तो है जो उषा सी जीवन–गगन में उगी थी और सन् 1978 ई0 तक उसका साथ ही नहीं दिया 'वरन उसी ने उसके जीवन का सारा गरल पिया था और उसी ने ही जीवन की सारी व्यथा सही थी''। ऐसी प्रियतमा पत्नी के वियोग में कवि यह गीत न रचता तो उसे प्रेम और सौंदर्य का पुजारी कवि कैसे कहा जा सकता था–

कैसे कटे, कैसे कटे !
तिमिरमय यह रात
कैसे कटे, कैसे कटे !
देह मन का ताप
कैसे घटे कैसे घटे !
स्मृति–जड़ित है देश, दिशि, आकाश,
बना योगी विरह–दग्ध पलाश,
प्राण में है पपीहे का वास–
नाम प्रिय का रटे,
कब तक रटे कैसे रटे।
गूँजते हैं पिकी, शुक के गान,
चल रहे हैं मंजरी के वाण,

कौन करता अनवरत संधान,
विशमयी यह वृष्टि धारासार?
तिमिर का आरोप कैसे हटे,
कैसे छँटे कैसे छँटे।

मैं यहाँ अब विस्तार भय के कारण कवि के विरह–वेदना के गीतों की व्याख्या नहीं करूँगा उनका विश्लेषण भी नहीं और न ही उन गीतों की एक–एक या दो–दो पंक्तियाँ देकर सन्तोष कर लेना चाहता हूँ। इसलिए विरह–वेदना के कुछ गीत पाठकों की सुविधा के लिए अवष्य देना चाहूँगा। अपने प्रिय के वियोग में संसार में कुछ भी बदलता नहीं है, दिन वही हैं, रातें वही हैं, ऋतुओं का क्रम भी वही रहता है। इस बात का ज्ञान सभी को रहता है, परन्तु–

दिन हैं वे ही, वे ही रातें,
ऋतुओं का क्रम भी है, वैसा,
सूखा–सूखा, अतिशय नीरस,
सब कुछ लगता उजड़ा जैसा।
मेरे जीवन की सुख–समष्टि–
सब गई तुम्हारे साथ आह।
धौंकनी–सदृश आती – जाती,
हैं साँसें, अब जीवन कैसा ?

अब केवल प्रिय की स्मृतियाँ धधकते अंगारे की तरह आती हैं, और–

धधकते तुम्हारी स्मृति के
जो अंगारे।
वे ही बन जाते हैं
निशीथ में तारे।
मैं उन तारों को गिन, गिन
रात बिताता।
मेरे जीवन में नहीं प्रात

अब आता।
कोई आकर है प्राणों में
कह जाता।
आ रहे मिलन के दिन फिर
निकट तुम्हारे।
मधु अमृत किरणवर्शी वे दिन सब बीते,
मिल गये धूल में अपने सब मन चीते।
है नियति घोर तम चारों ओर पसारे ।
धधकते तुम्हारी स्मृति के, जो अंगारे ।
वे ही बन जाते हैं निशीथ में तारे ।
तब प्रिय कर ही क्या सकता है—
पीता हूँ पल – पल
ज्वलित हलाहल—हाला ।
कर दिया तुम्हारी सुधि ने
है मतवाला।
एकाकी जीवन, शयन
कुटिल काँटों का—
पर्याय बन गया है
निर्मम घातों का—
टूटता नहीं क्रम अब
तममय रातों का—
जलती है बाहर —भीतर—
दुःसह ज्वाला।
दाहकते दृष्टि ये तारों के अंगारे,
क्षण भर भी आते पास न स्वप्न तुम्हारे।
परिधान देह का रहूँ कहाँ तक धारे,
कब तक मैं पीता रहूँ,
हलाहल हाला।
पीता हूँ पल—पल ज्वलित हलाहल हाला।

कवि इस तथ्य–सत्य से भली–भाँति अवगत है कि– 'जो गया, गया न आयेगा/ किन्तु अन्तर शान्ति न जगाएगा।/बुझ गयी है जिजीविशा मेरी–/'कौन यह ज्योति अब जगाएगा'/ तो भी वह अपनी प्रियतमा से मिलना चाहता है। वह कहता है कि– ''स्वप्न में ही कहो,/कहाँ हो तुम?/मुझको भी ले चलो,/जहाँ हो तुम।/ सहज जीवन, नहीं रहा मुझको। मृत्यु में ही मिलो, मिलो तो तुम''। निराला भी अपनी पत्नी को देखने की इच्छा प्रकट कर चुके हैं–

एक बार भी यदि अजाना के,
अन्तर से उठ आ जाती तुम,
एक बार भी प्राणों की तम–
छाया में आ कह जाती तुम।
सत्य हृदय का अपना हाल–
कैसा था अतीत वह, अब यह,
बीत रहा है कैसा काल?
मैं न कभी कुछ कहता,
बस तुम्हें देखता रहता।

यह सच्ची, सही तथा स्वाभाविक वेदना है। महाकवि तुलसीदास के राम भी सीता जी का वियोग नहीं सह सकें। वे पागलों की भाँति जड़ –चेतन तथा वन्य पशुओं से पूछते फिरते हैं कि क्या तुमने मेरी प्राण–प्रिया मृगनयनी सीता को कहीं देखा है? ऐसी स्थिति में विरही कवि की खोज स्वाभाविक ही है–

खोजता हूँ,
यशोधरा–सी धवल वह दृष्टि,
खोजता हूँ,
कल्पलतिका का सहज आश्लेश–
खोजता हूँ,
चाँदनी सी वह निरन्तर सृष्टि।

कवि अब अपने शेष जीवन को अपनी सुखद स्मृतियों के सहारे बिता रहा है। प्रिय की स्मृति के धधकते अंगारे ही रात के तारे बन जाते हैं, फिर भी कवि उन्हीं स्मृतियों में खोया रहता है। इसी भाव–दशा में कवि को ऐसा लगता है, जैसे– "कोई आकर है प्राणों में/ कह जाता। आ रहे मिलन के दिन फिर, निकट तुम्हारे।

जब विरह वेदना कुछ शांत होती है तो प्रेमी अपने प्रिय को आध्यात्मिक आवरण देकर उसका नित्य सानिध्य चाहता है क्योंकि उसके अतिरिक्त उसका ध्रुव तारा कोई दूसरा नहीं है–

ओ मेरे ध्रुव तारा ।
सूख गई जीवन के मरु में
अंतर की रसधारा ।
स्नेहसिक्त कर दो सब बंधन,
वंचित रहे न बुझा हुआ मन,
चरम निशित सुधियों के–
दंशन की हो मधुमय कारा।
अब विश्लेश नहीं पता झिल,
पथ न कभी हो मेरा पंकिल,
करो प्रकाशित कण–कण तिल–तिल,
मेरे तुम्हीं सहारा।

हिन्दी–जगत में ऐसे लोगों की सख्या नगण्य है, जो लोग इस तथ्य से भली– भाँति परिचित हैं कि कुँवर साहब का साहित्यिक जीवन संघर्षमय रहा है। इनमें वे लोग भी सम्मिलित हैं जिन्हें कुँवर जी ने विश्वविद्यालयों के सर्वोच्च पदों तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि वे युवराज दत्त महाविद्यालय लखीमपुर खीरी को छोड़कर पहली बार सन् 1958 ई0 में एम0एस0 विश्वविद्यालय बड़ौदा, गुजरात के हिन्दी विभाग के प्रथम आचार्य नियुक्त हुए थे और अहिन्दी भाषा–भाषी प्रदेश के इस विश्वविद्यालय को एक सीमित अवधि में देश के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया था, परन्तु वे अधिक दिनों

तक इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य–पद पर नहीं रह सके थे। उन्हें पाँच–छः वर्ष की सीमित अवधि में बड़ौदा विश्वविद्यालय छोड़ने के लिए बाध्य किया गया था। इसके पश्चात उन्होंने सन् 1965 ई0 में जोधपुर विश्वविद्यालय राजस्थान के हिन्दी विभाग के आचार्य पद का दायित्व सँभाला था। वे यहाँ भी अधिक समय तक नहीं रह सके। यहाँ वे केवल चार वर्ष तक ही रह सके। इन विश्वविद्यालयों का आचार्य पद उन्हें विरोधों के कारण छोड़ना पड़ा था। इन विरोधों के अतिरिक्त उन्हें कविता के क्षेत्र में निरन्तर विरोध सहना पड़ रहा था। हिन्दी में उस समय तक वामपंथियों का आधिपत्य जम चुका था। कुँवर जी सत् साहित्य के पक्षधर थे। वे साहित्येत्तर मतवाद को साहित्य का प्रदूषण मानते हैं। इसलिए संघर्ष होना स्वाभाविक था। साहित्य के मंचों पर भी उन्हें इन विरोधों का सामना करना पड़ता था, परन्तु वे अपने मत पर अडिग रहते थे। डॉ0 विश्वंभर नाथ उपाध्याय ने लिखा है कि– ‘‘मैंने देखा था, परिसंवादों में जब परम्परा पर चोट होती थी तो वे तिलमिलाकर खड़े हो जाते और विरोध करते।’’ कुँवर जी न दैन्यम् न पलायनम् के सिद्धान्त को मानने वाले थे। इसीलिए हिन्दी जगत के विरोधों से वे विचलित नहीं हुए, परन्तु पत्नी के निधन के बाद वे अकेले पड़ गये थे। इसलिए निराला की भाँति साहित्य –जगत का यह विरोध वाणी पाने लगा। इस स्थिति में उनका दर्द छलककर इस रूप में सामने आया–

दर्द ही दर्द बेदर्द मुझको मिला,
जिंदगी का सुमन कंटकों में खिला।
वार पर वार झेला किया अनवरत,
शान्ति–सुख छोड़ मुझको हुए भूमिगत।
प्राण में मैं पपीहा बसाये हुए
घूँट पर घूँट विष जा रहा हूँ पिए ।
मैं जिया ताप की भट्ठियों में जिया,
अंधड़ों में न बुझने दिया पर दिया।
दूर पर दूर होता किनारा गया,
मैं बहा किन्तु मझधार बन रह गया।

खे चलो, ले चलो डूबती है तरी,
जीर्ण है और है कोटि छिद्रों भरी।
अब न कोई सहारा कहीं शेष है,
देव ! कितना तुम्हारा अगम देश है।

कवि उच्चकोटि का आस्थावान वैष्णव भक्त था। इसलिए वह जीवन–साधना 'सार–सिद्धि' को छोड़कर सर्वस्व त्याग की परमपिता परमात्मा की शरण ग्रहण कर इस संसार को पार करना चाहता है–

पार कर पार रे!
ऊर्ध्व–पथ चढ़ रही,
बढ़ रही धार रे !
खुल दल कमल पर नवल प्रातः किरण,
सोहती, ध्वनित संगीत सुन मधुर स्वन,
पवन अनुकूल द्रुत चरण कर संवरण,
हार उर की, न उस पार नीहार रे !
रोध की, शोध निज बोध, मिथ्या कथा,
सर्वथा दूर होगी यहाँ जो व्यथा,
इष्ट अति मिष्ट होता नहीं अन्यथा–
सार सिद्धि रह जाय, बह जाय संसार रे !
पार कर पार रे! ऊर्ध्व–पथ चढ़ रही, बढ़ रही धार रे !

कुँवर जी ने कभी हार नहीं मानी। वे संघर्षरत रहकर भी काव्य–सृजन में लीन रहे और एक से बढ़कर एक काव्य–कृतियाँ प्रकाश में आती गयीं। उनके जीवन की 'सार–सिद्धि' हमारे पास उनकी धरोहर है, जो काव्य–विमर्श की प्रतीक्षा में है।

महाकवि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने छायावाद को 'मंगल क्रान्ति उषा–सी' कहकर छायावादी कविता की चिर नवीनता का उद्घोष किया था। यह नूतन क्रान्ति केवल भावों की ही क्रान्ति नहीं है, यह क्रान्ति नूतन काव्यभाषा की भी क्रान्ति थी। द्विवेदी मण्डल के कवि विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा आचार्य द्विवेदी यह अनुभव कर रहे थे कि हिन्दी

की खड़ी बोली की कविता में ब्रजभाषा, उर्दू, बंगला तथा अँग्रेजी भाषाओं का–सा लालित्य नहीं आ सका है। उन्हें किसी महान कवि के आगमन का इन्तजार था, जो अपनी काव्यभाषा से कविता को लालित्यमय बना सकेगा और इसके साथ ही वह हिन्दी कविता को हिन्दी के परम्परागत छंदों से भी मुक्ति प्रदान कर सकेगा। हिन्दी कविता का यह परम सौभाग्य है कि उसे अधिक दिनों तक यह इन्तजार नहीं करना पड़ा। शीघ्र ही 'अहिन्दी' भाषा–भाषी प्रान्त में रह रहें महाकवि निराला ने सन् 1916 ई0 में अपनी प्रथम कविता 'जुही की कली' के द्वारा हिन्दी कविता में नूतन भाव, नूतन भाषा, नूतन शैली, नूतन छंद, नूतन अलंकार, नूतन काव्यरूप, नूतन बिम्ब तथा नूतन प्रतीक की जो क्रान्ति की थी वह हिन्दी कविता की मुख्य धारा सिद्ध हुई। आधुनिक कविता की यह क्रान्ति केवल भावों की क्रान्ति नहीं थी, मूलतः यह क्रान्ति थी काव्यभाषा की। महाकवि निराला ने छायावाद के लिए काव्यभाषा का जो स्वरूप निर्धारित किया था, काव्यभाषा का वही रूप छायावाद की प्रमुख कसौटी बना। काव्यभाषा का यह रूप है क्या? यदि हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमें पता चलता है कि वह संस्कृतनिष्ठ प्रांजल काव्यभाषा है। वह भावानुरूपिणी काव्यभाषा है। इस काव्यभाषा का प्रधान गुण है, स्पष्टता, और शब्द तथा अर्थ का पूर्ण सामंजस्य, जहाँ शब्द प्रयोग में चरम मितव्ययिता, रूपक, उपमा आदि शाब्दिक सौंदर्य और लालित्य में परम संयम। यह भाषा चाहे गद्य की हो चाहे पद्य की, अत्यन्त स्वच्छ, सटीक, प्रसन्न और प्रांजल होनी चाहिए। यदि उसमें अलंकरण न हो तो भी उसमें नैसर्गिक सौंदर्य होना परमआवश्यक है। इसी बात को लक्ष्य कर महाकवि पन्त ने लिखा था– ''तुम बहन कर सको यदि जन–जन में मेरे विचार। वाणी मेरी तुझे चाहिए क्या अलंकार''। निराला इन गुणों के साथ उसमें आधुनिक जवीन की जटिलताओं के उपयुक्त सूक्ष्मता औरी व्यंजकता का होना आवश्यक है। काव्यभाषा के ये सभी गुण निराला तथा कुँवर जी की काव्यभाषा में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इन दोनों कवियों में कुँवर जी निराला को पीछे छोड़कर बहुत आगे निकलने में सफल हो सके हैं। कुँवर जी ने लगभग 66–67 वर्षों तक काव्य–साधना में लीन रहे। इस लम्बी अवधि में वे एक क्षण के लिए छायावादी भाव–भूमि से डिगे नहीं। न उनकी अनुभूति

चुकी ओर न उनकी काव्यभाषा डिगी। जब छायावाद के प्रमुख कवि– (1) निराला, (2) प्रसाद, (3) पन्त तथा (4) महादेवी वर्मा– पृथक–पृथक कारणों से छायावाद से पृथक हो गये थे, तब महाकवि कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने छायावाद को शताब्दी व्यापी व्यक्तित्व प्रदान कर छायावाद की श्रेष्ठता का जयघोष किया था।

छायावाद अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा का काव्य है। यहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति का सौंदर्य समान रूप से महत्वपूर्ण है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है कि यदि अनुभूति सुन्दर होगी तो उसका काव्य–शरीर सुन्दर होगा ही, परन्तु इन दोनों में अनुभूति ही प्रमुख है। कारण यह है कि इस काव्य–शरीर के भीतर से जो वस्तु झाँकती प्रतीत होती है, वह अनुभूति ही तो है। छायावादी काव्य सौन्दर्य जिस भाषा के आवरण में प्रकट होता है, वह अनुभूति का ही सौन्दर्य है। इसीलिए काव्य को शाब्दिक कला कहा गया है। छायावाद ने जिस काव्यभाषा का आविष्कार किया था, वह काव्यभाषा छायावाद का पर्याय बनी रही। इसीलिये यदि किसी कवि के विषय में यह निर्णय करना हो कि वह कवि कब छायावाद में आया और कब छायावाद से पृथक हो गया तो उसकी काव्यभाषा का अनुशीलन बड़े रोचक निष्कर्ष देता है। यदि हम प्रसाद की काव्यभाषा का अनुशीलन करते हैं तो हमें पता चलता है कि वे विकासात्मक काव्य–प्रतिभा के कवि हैं। उनकी काव्यभाषा में उत्तरोत्तर विकास देखा जा सकता है। वे ब्रजभाषा से प्रारम्भ कर खड़ी बोली में आते हैं। एक लम्बे समय तक वे 'खड़ी बोली का ब्रजभाषा करण' करते रहे हैं। उनकी कविता में खड़ी बोली की परिष्कृत पदावली पहले पहल 'आँसू' के द्वितीय संस्करण (1930) में निखार पाती है। इसलिए अनुभूति के अतिरिक्त यदि काव्यभाषा को कसौटी के रूप में स्वीकार किया जाता है तो छायावाद में प्रसाद का प्रवेश सही अर्थों में सन् 1930 ई0 में माना जाना चाहिए। 'आँसू' के द्वितीय संस्करण के पूर्व वे पूरे तौर पर छायावादी कवि नहीं कहे जा सकते हैं। यह बात दूसरी है कि आचार्य बाजपेयी अपने प्रिय कवि प्रसाद के प्रारम्भिक चरण में ही उनकी महानता के तत्व खोज लेते हैं। यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि प्रसाद के भाव तथा उनकी भाषा द्विवेदी युगीन

थी। उन्हें छायावादी अनुभूति बाद में मिली और उस नूतन अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में उन्हें अधिक समय लगाना पड़ा।

नूतन अनुभूति के साथ परिष्कृत पदावली ही छायावाद की पहचान है। जब छायावादी परिष्कृत पदावली बदल जाती है तो काव्य–प्रवृत्ति बदल जाती है और यदि छायावाद की अनुभूति चुक जाती है तो या तो काव्य–साधना में विराम लग जाता है या छायावादी भाव– भूमि छूट जाती है। पन्त बड़ी धूम–धाम से 'पल्लव' के साथ सन् 1928 ई0 में छायावाद में प्रवेश करते हैं और उतनी ही तेजी के साथ छायावाद का अन्त घोषित कर सन् 1932 ई0 में 'गुंजन' देकर छायावाद छोड़कर चले जाते हैं। महादेवी वर्मा अनुभूति की जो थाती लेकर छायावाद में आयीं थीं, वह पूँजी जब सन् 1942 ई0 तक आते–आते चुक जाती है तब वे अपनी 'दीपशिखा' (1942) जलाकर सदा–सर्वदा के लिए छायावाद का परित्याग कर देती हैं। निराला का भी कुछ ऐसा ही हाल है। निराला ने जिस नूतन भाव–बोध (अनुभूति) नूतन भाषा, नूतन शैली, नूतन छंद, नूतन अलंकार तथा नूतन काव्य–रूप से हिन्दी कविता में युगान्तर किया था उनकी वह अनुभूति तथा उनकी वह काव्यभाषा 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' के बाद जब उनका साथ नहीं दे पाती तब वे छायावादी नहीं रह पाते। तब वे प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता आदि प्रवृत्तियों के प्रमुख प्रवर्तक बनकर सामने आते हैं। सन् 1942 ई0 के बाद जो कवि अपनी अनुभूति और अपनी संस्कृत निष्ठ प्रांजल पदावली के साथ सन् 1997 ई0 तक छायावाद की उच्चतर भाव–भूमि पर स्थिर रहा उसकी अनुभूति और उसकी परिष्कृत पदावली में कोई अन्तर नहीं आया उसका नाम है महाकवि आचार्य कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह। कुँवर जी की न अनुभूति घटी और न ही उनकी काव्यभाषा की पदावली में कोई गिरावट आयी। यदि सही अर्थों में देखा जाये तो उनकी अनुभूति और उनकी पदावली में उत्तरोत्तर विकास ही होता गया है। सच बात यह है कि निराला ने छायावाद के प्रवर्तन के लिए जिस आदर्श काव्यभाषा को अंगीकार किया था, काव्यभाषा के उसी रूप से जुड़कर कुँवरजी ने उसे अपनी प्रतिभा से निखारा और आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए काव्यभाषा का एक अनुकरणीय आदर्श

उपस्थित किया। उनकी काव्यभाषा के निर्माण में संस्कृत वाङ्.मय का अभुतपूर्व योगदान है। उनके शब्द–प्रयोग में चरम मितव्ययिता है। उपमा, रूपक तथा सामासिकता में परम मितव्ययिता है। हमारी कसौटी पर काव्यभाषा की पूर्णता के सर्वोच्च निदर्शन कुँवर जी ही हैं।

महाकवि कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह सन् 1931 ई0 में निराला के सम्पर्क में आने के बाद छायावाद की जिस अनुभूति में पगे थे और अपनी अनुभूति के अनुरूप जिस काव्यभाषा का निर्माण किया था उसमें उत्तरोत्तर विकास ही होता गया। कुँवर जी की काव्यभाषा जिसकी विशेषता का उल्लेख आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सन् 1960 ई0 में किया था, वह अन्त तक बनी रही। उन्होंने लिखा था कि– ''कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता उनकी परिष्कृत और प्रांजल पदावली है जो भाषा पर उनके अधिकार की ही नहीं उनकी गहरी पहचान की भी परिचायक है। हिन्दी काव्य में निराला की पद–रचना अपनी सामासिक शैली के लिए प्रख्यात है। थोड़े से चुने हुए शब्दों में गंभीर और प्रशस्त आशय की अभिव्यक्ति उनकी काव्य–भाषा का गुण है। –––कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के शब्द–प्रयोग निराला की शैली के हैं, यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।'' कुँवर जी के शब्द–चयन और शब्द–प्रयोग को लेकर वाजपेयी जी कहते हैं कि– ''शब्दों के चयन में केवल अर्थ–प्रवणता ही एक मात्र विशिष्टता नहीं होती वरन् उच्चारण–संगति, भाव–संगति, प्रवहमानता आदि गुण भी अपेक्षित होते हैं। केवल कोमल कान्त पदावली भाषा प्रयोग की एक मात्र सफलता नहीं है, ऋजु–कुटिल नाना पथों से चलकर काव्य की पदावली अपनी भास्वरता प्राप्त करती हैं परन्तु साथ ही उसमें एक अन्तर्निहित सन्तुलन भी होना चाहिए नहीं तो वह बिखरी हुई वस्तु बन जायेगी। यहाँ भी कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह निराला की ही भाँति अपनी प्रयुक्त पदावली में एक स्पष्ट तराश का प्रमाण देते हैं। वह तराश जो भाषागत विविधता में कलात्मक समरूपता लाती है।'' आचार्य वाजपेयी जी की यह टिप्पणी छायावादी कवियों की काव्यभाषा की वह कसौटी है जो छायावादी कविता की भाव–भूमि की परिचायक है। यहाँ कहना पड़ता है कि कुँवर जी की काव्यभाषा जो भावों के अनुरूप है, उन्हें छायावाद का सर्वश्रेष्ठ कवि

घोषित करते हुए उन्हें छायावाद का उन्नायक कवि घोषित करने के लिए पर्याप्त है। कुँवर जी आदि से लेकर अन्त तक छायावाद की अनुभूति और छायावादी काव्यभाषा के समर्थ कवि रहे हैं। भाषागत विविधिता की इसी कलात्मक समरूपता की कसौटी पर 'घनमाला' के काव्य –सौंदर्य का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि छायावाद कविता के लिए नूतन अनुभूति और नूतन काव्यभाषा का होना एक अनिवार्य शर्त है। छायावाद के जिस–जिस कवि में इनमें से जब–जब एक भी तत्व घटा है, तब–तब वह कवि छायावाद से हटा है। छायावाद ने इसका दायित्व समालोचकों पर नहीं छोड़ा। उसने स्वयं इसका वेबाक निर्धारण किया है। जो आचार्य इस तथ्य की अनदेखी करते हैं, वही प्रसाद और पन्त को छायावाद का प्रवर्तक कवि घोषित कर अपनी 'पार्टीजन समीक्षा' का उदाहरण प्रस्तुत करते रहते हैं।

छायावाद के श्रेष्ठ कवियों ने भावानुरूपिणी काव्यभाषा का एक आदर्श रूप स्थापित किया था। जब–जब भाव (अनुभूति) बदले, भाषा बदलती रही है। यही कारण है लोकोन्मुखी भाव–भूमि की कविताओं की भाषा अपेक्षा कृत सरल रही है। इसका प्रमाण कुँवर जी की काव्य–कृति 'जीवन आस–पास' में संकलित कविताओं की भाषा हैं। यहाँ यथार्थ की अभिव्यक्ति है। इसलिए यहाँ की काव्यभाषा के शब्द–विन्यास तथा शब्द–चयन में कोई अलंकरण नहीं है। यह काव्यभाषा अपने स्वाभाविक रूप में प्रवहमान है। इस काव्य–कृति के छंदों में भी परिवर्तन आया है। जो कविताएँ अतुकान्त हैं, वे सपाट बयानी तक पहुँच गयी हैं। परन्तु इन कविताओं की लोकोन्मुखता नारे बाजी नहीं है। यहाँ दीन–हीन, साधन–विहीन तथा अपहृत सर्वस्वों के प्रति गहरी सहानुभूति व्यक्त हुई हैं। ऐसी कविताओं में 'अमीनाबाद' कविता अपने शिखर पर है। इस कविता में दीन–हीन भिक्षुओं के प्रति गहरी सहानुभूति में एक ऐसा औदात्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है। छायावादी कवियों का मानवतावाद इसी कोटि की कविताओं में मुखरित हुआ है। इन कविताओं की अनुभूति को उसकी सम्पूर्णता में, अभिव्यक्ति प्रदान करने में कुवँर जी की काव्यभाषा अतुलनीय है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कुँवर साहब के पास अनुभूति और अभिव्यक्ति के सामंजस्य का वह अक्षय कोष था जो कभी रिक्त नहीं हुआ। उन्होंने अपनी काव्यभाषा के द्वारा हिन्दी के शब्दकोश को परिपूर्ण करने की साधना की थी। उनकी कविता में सैकड़ों ऐसे भाव–व्यंजक शब्दों का विन्यास हुआ है, जिनका शब्दार्थ हमारे जैसे सैकड़ों पाठकों को ज्ञात नहीं है। इसलिए कुँवर जी के शब्द–चयन का एक विश्वकोष तैयार किया जाना आवश्यक है। उन्होंने छायावादी काव्यभाषा का परिरक्षण ही नहीं किया, वरन् उन्होंने उसका व्यापक विशदन, परिष्करण और विस्तार भी किया है। उसे भावात्मकता के साथ जोड़ा। यही कारण है कि उनकी काव्यभाषा उनकी अनुभूतियों, उनके भावों तथा उनकी संवेदनाओं के वैविध्य को साकार करने में सफल है। 'घनमाला' की काव्यभाषा भावों के अनुरूप अपना रूप सँवारती है। काव्यभाषा के जिस रूप से निराला ने छायावाद का प्रवर्तन किया था, काव्यभाषा के उसी रूप का पूर्ण निदर्शन कुँवर साहब की कविताओं में साकार हुआ है। 'घनमाला' हिन्दी के आचार्यों के विमर्श के लिए हिन्दी–जगत के आकाश में अपने बहुरंगी पंख पसार कर 'विचर' रही है–

विचर रही घनमाला।
उड़ती नभ में पंख पसारे
ज्यों खग पंक्ति अराला।
चित्र–विचित्र हो अंकित,
बहुरंगी किरणों से द्योतित,
यह सौन्दर्य गीतिमय, गतिमय,
किसकी है कृतिशाला।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी–जगत कुँवर जी के अन्तिम गीत–संग्रह 'घनमाला' का समुचित स्वागत करेगा।

अमृत महोत्सव वर्ष
शरद् पूर्णिमा 2021

प्रो0 शिवमोहन सिंह

(१)

जय हिन्दी, जय हिन्दी!
चिर-अभिनव भारतमाता के,
भव्य भाल की बिन्दी!

इसके वर्ण, रूप, रस के वश,
सूर-उदधि, तुलसी का मानस,
सन्त कबीर और मीरा की,
वाणी शुचि - जय हिन्दी!

छन्द, भाव, भाषा, रस-वैभव,
करते वृद्धि-सिद्धि कवि नित नव,
गुणागरी नागरी हमारी,

लिपि निरुपम-जय हिन्दी!

नंददास, रसखान, देव कवि,
घनानंद, भूषण अमंद छवि,
खुले, खिले अंचल-छाया में,

धन्य हमारी हिन्दी!

फैला देश-विदेश उजाला,
सुविदित पंत, प्रसाद, निराला,
प्रेमचंद ने जीवन डाला,

अमर हमारी हिन्दी!

(२)

बादल नये-नये आयेंगे!
वे सागर से नहीं, स्वर्ग से,
नवजीवन प्लावन लायेंगे।

अति चेतन के शीर्ष-शिखर पर,
इनका है अधिवास मनोहर,
उतर धरित्री के प्रांगण पर,,
सोम सुधा ये बरसायेंगे।

सत्य, वृहत, आनंद रूप ये,
ऋतु के संवाहक अनूप ये,
चरम सत्य के परम तीर्थ में,
ये संसृति को नहलायेंगे।

अंतर्ज्ञान गहन ये चिन्मय,
कर देंगे जीवन अकुतोभय,
असत् तमस पर और मृत्यु पर,
जय पा नित नव सरसायेंगे।।

(३)

आयेंगे बादल दल के दल !
नील गगन सर में,
विकसेंगे श्यामल कंज पुंज अगणित कल।।

तप से ऊर्जित श्याम मेघ फिर,
आयेंगे दामिनी सहित घिर,
छहर-छहर कर, घहर-घहर कर,
तप्त धरा कर देंगे शीतल।।

तोड़ तिमिर की दुर्गम कारा,
उतरेगी ज्योत्स्ना की धारा,
उर-उर के सीपी-संपुट में
लेंगे जन्म मुक्ति - मुक्ताफल।।

चिन्मय यह ऋतु-चक्र विवर्तन,
सत्य और ऋतु का अनुशासन,
बरसेंगे अविरत धरती पर,
धर्म - मेघ ये शुचि मंगल जल।।
आयेंगे बादल दल के दल।।

(४)

लोचन भर-भर आये!
अलका का संदेश सुनाने-
मेघ धरा पर छाये।।

विचर रहे ये शिखर-शिखर पर,
देख रहे दामिनी-नयन भर,
छान रहे सरि, सर वन, अम्बर,,
मिला न वह-
जिसके कानों में दारुण व्यथा सुनायें।।
घूम नीर से मिला समीरण,
जड़-तत्वों के सन्निपात घन,
विरह, अमृत पी हुए सचेतन,,
जीवन में-
जग के खोये शत प्रेम बीज ले धाये।।
वहाँ कुंज में बैठी वामा,
अंतर ज्वलित, तप्त तन, क्षामा,
श्वास शेष अब वह अभिरामा,,
कहती सखि !
वे दूत लौटकर नहीं संदेशा लाये।।
लोचन भर - भर आये।।

(५)

खो गया हास तुम्हारा हाय।
कुटिल कंटक-वन में असहाय।।

शरद की ज्योत्स्ना का वह लास,
दिवस का मधुऋतु के उल्लास,
भरा था जिसमें हृदयाकाश-
हो गया सहसा तम में लीन,
काल के विप्लव में असहाय।।
बन गया है मरु सावन मास,
शेष बस ज्वालामय निःश्वास,
और यह जीवन जला जवास-
रात फिर दिन गिनता निरुपाय।

(६)

रूप वह शिशिर-सुहानी धूप !
सरसों के फूलों सी जगमग
तन की कान्ति अनूप !

अंग-अंग में बलखाती-सी थी बेसुध तरुणाई,
लहर उठाती ज्यों गेहूँ के खेतों में पुरवाई,,
अथवा जैसे गंध लुटाती फागुन की अमराई--
चकित दृष्टि कुंदों की सुषमा-सरि
की थी प्रतिरूप।।

चिकने काले घुँघराये आगुल्फ विलम्बित केश,
मानो निशि ने जीत लिया हो दिन का ज्योतिर्देश,
अवगुंठन रचता था शशि का नित नूतन परिवेश-
हाय कहाँ वह गया
रह गया मैं स्मृतियों का स्तूप।।

(७)

रंगों में यह निशा नहाई !
तुमने प्राणों में यह कैसी
दुःसह आग जगाई !
वर्णों के अर्णव में डूबे मेरे साँझ-सबेरे,
बहुरंगी ज्वालाओं के ये नहीं टूटते घेरे,
फिर भी अविश्रान्त तुम
भर-भर चला रहे पिचकारी !
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
घन अवली घिर आई !
तुम मेरे मुख पर मलते हो जब किरणों की रोली,
जल, जल उठती है द्विगुणित हो यह अंतर की होली,
निज आह्वान-तान से क्षण-क्षण कूक -हूक भर देते
नयनों में अबीर भर तुमने
छबि निज हाय ! छिपाई !
कैसा दाहक दव प्राणों में युग-युग से जलता है,
इसकी छाया में रंगों का जग पलता-फलता है,
रूपों में अरूप ! रंगों की निधियाँ
तुमने खोलीं,
उनमें ही लगती है धरती
कण - कण आज समाई।
रंगों में यह निशा नहाई !

(८)

चली चटक पिचकारी !
प्राणों में तुमने यह कैसी
व्यथा जगा दी प्यारी !

दहक उठा अंतर में मेरे यह पलाश-वन सहसा,
बौराये मन में रसाल का कुंज-पुंज है विलसा,
शुक, पिक, चातक की स्वरमयता रोम-रोम में हुलसी,
पीर-अधीर अबीर भरे दृग, हर ली सुध-बुध सारी।
रंगों की तरंग बनकर तुम प्राण ! चतुर्दिक छाये!
नील, अरुण, घनसार, पीत के पार कहाँ हम जायें।
वर्णों के अर्णव में खेते हुए तरी तुम आये-
कहाँ तुम्हारा स्वप्न-सौंध वह प्रियतम! चिर श्रमहारी !
चली चटक पिचकारी !

(६)

फिर वह आया दिवस
डसा था जिसने मुझको व्याल- सा!

फैलाती धरती पर, नभ पर
ज्वालाओं का जाल - सा!
पिला रहा है फिर-फिर मुझको कालकूट के घूंट
दहन तुशानल का है क्षण भर मिलती कभी न छूट
यह सावन निदाघ-सा लगता,
दिन तम तोम घिरा,
और रात में नभ अशेष,
लगता अंगार भरा!

लट छिटकाये कृत्याओं सी लगती सभी दिशायें,
दाहक पीड़ा के द्रव से हैं पूरित सभी शिरायें!

एक सुधा का बिन्दु गरल का सिन्धु बना सहसा-
चला रही जर्जर जीवन पर-नियति कठोर कशा!

आयेगा कब तक जीवन में दिन यह फिर-फिर व्याल-सा,
कब तक यह मुझको बाँधेगा ज्वालाओं के जाल-सा!!

(१०)

हो गये ये बदरा बदराह !
बेदरदी घिर, घिर फिर-फिर ये
देते दुःसह दाह !

दिन को रात बनाते हैं ये,
आग लगाते आते हैं ये,
आँसू के सागर में मुझको,
आह! न मिलती थाह!

यह बिजुरी बेजार कर रही,
अंगारों की धार झर रही,
मुझे डुबाता आता है यह,
काला, काल – प्रवाह !

सकल दिशायें आँजन आँजे,
धरती धानी अंबर साजे,
खिले कदम्बों के कुंजों की,
अब न मुझे सखि! चाह!!

(११)

हुआ है अश्रुमय यह ग्रीष्म-जीवन !
मिलेगा लौटकर अब क्या न वह क्षण!

तिमिर में खोजते ये नयन हारे,
न हैं पदचिन्ह भी मिलते तुम्हारे,
पपीहा प्राण का कब तक पुकारें-
दृगों में बस गया है शुष्क सावन!
जलाये दीप सुधियों के निरंतर,
चला हूँ शूल-संकुल वन्य पथ पर,

मिला अवलंब का पर वह नहीं कर ,
न जीवन दीप में अब स्नेह का घन !
विगत के स्वप्न-धन से प्राण वंचित,
मिला आगत तिमिरमय ताप-भर्जित,
अनागत की निकट है सांध्य बेला,
न जिसमें कौमुदी का कान्त मधुबन !!
हुआ है अश्रुमय यह ग्रीष्म - जीवन !!

(१२)

तपाओ और तपाओ बंधु!
ग्रीष्म तुम जीवन के प्रतिरूप!
रहे शैषव से ही तुम साथ,
तप्त सैकत का मैं हूँ पांथ,
जले पद, छाले पड़ते रहे,
मिला कोई न सरित, सर, कूप!

शरद की राका की मुसकान,
मिला क्षण भर को उसका दान,
सह न पाये तुम वह सुख-योग,
जेठ की दी फिर तपती धूप!

मिला यह एक तुम्हारा प्यार,
और अंगार और अंगार !
कृपणता लेष न तुम में शेष,
मित्रता के प्रतिमान अनूप !

(१३)

तुम्हारे प्रति अनन्त आभार !
ग्रीष्म, तुम तपोमूर्ति साकार!

रसालों को रस दिया अनंत,
किया बेला को सौरभवंत,
मालती मुकुलों से सज गई,
घनों को धरती रही पुकार!

तपे तुम बन वृष के मार्तंड,
ज्वलित पौरुष के रूप प्रचंड
क्रान्ति की ज्वालाओं की उग्र,
लाल रसनायें में रहे पसार !

लू-लपट विकट तुम्हारा श्वास,
प्रभंजन क्षोभ - भरा उच्छ्‌वास,
स्वेद-श्रम वास तुम्हारा सुखद,
कर रहे अशिव अमंगल क्षार !

(१४)

बादल घिर आये !

श्याम निशा का शीतल कोमल तरल स्पर्श लाये !

है झहर-झहर बूँदों की झीनी-झीनी,

विस्फुरित हो रही चपला की रंगीनी,

यह बहती है पुरवाई भीनी - भीनी,

माटी की सोंधी-सोंधी गंध जगायें !

है श्याम गगन, धरती श्यामा,

पावस मंगल गाती श्यामा-

किसकी वंशी ध्वनि गूँज रही,

घनश्यामरूप बादल छाये !

(१५)

दृग रहें न सूखे,
तो धरती सावन है।
मन रहे न रूखे,
तो पग-पग मधुवन है।।

अन्तर का द्रव ही जीवन सरस बनाता,
उसकी वीणा पर नव-नव राग सजाता,
वह ही प्राणों का चातक बनकर गाता,,
अमरत्व भरा वह विषमय संवेदन है।।

यह विरह-मिलन की गाँठ कसकती क्षण-क्षण,
है श्वास-श्वास में इस पीड़ा की ऐंठन,
दाहक निदाघ बन घिर-घिर आते हैं घन,,
मरु है, पर सागर का उसमें प्लावन है।।
दृग रहें न सूखे, तो धरती सावन है।।

(१६)

बिदा माँगी आज प्रातः
कुंद ने मुझसे,
चुन रहा था फूल
पूजा के लिये जब मैं–
वल्लरी पर आज केवल चार पुष्प खिले,
चतुर्वर्ग समान करते प्रेरणा का
दान उज्ज्वल शुभ्र !
कहा उसने– 'जा रहा हूँ सखे !
मैं अब–
तभी आऊँगा करेगा शिशिर
जब फेरा धरा पर फिर!
आज मानसरूप रथ पर निखिल जन के
आ रहा आरूढ़ होने के लिये मधुमास
गंध मधु से जायेंगे भर
सब दिशा आकाश !

(१७)

सुलगती पलाश के वन-सा
जीवन होली आई !

रंग-बिरंगी मधु-स्मृतियों की चली चटक पिचकरी,
करक रहे बीते दिन नयनों में अबीर बन भारी,
तन तप, तप बन गया वेदना के केसर की क्यारी-
लिये उपायन अंगारों का होली यह फिर आई!

भिगो गया कोई गुलाल-से सहसा उर का अंबर,
धधक उठा निशीथ में सूखे काठों सा यह अंतर,
मन प्राणों को बेध गये ये कितने सौरभ के शर,
दग्ध कामनाओं की
रज, ले बही विकल पुरवाई !

(१८)

फूलों में परिणित हुए गड़े जो काँटे,
काँटे सब मैंने फूल बना कर बाँटे !
इन काँटों में मैं बिद्ध हुआ हूँ जब-जब,
प्रभु की स्मृति पाथेय बनी है तब-तब!
काँटों-फूलों से मिला-जुला है जग सब,
काँटे तज मैंने फूल निरन्तर छाँटे !
काँटों में खिलता रहा फूल जीवन का,
काँटे करते श्रृंगार सदा इस वन का,
पर फूलों से ही भरा स्तवक है मन का
चुभ-चुभ फूलों का प्यार दे गये काँटे !
काँटों से पथ में मैं न कभी भी हारा
चिर अनवरुद्ध प्रवाहित जीवन की धारा,
तोड़ूँगा काँटों से काँटों की कारा-
बन जाँय फूल जो वंदनीय वे काँटे !
फूलों में परिणत हुए गड़े जो काँटे,
काँटे सब मैंने फूल बना कर बाँटे!!

(१६)

धधकते तुम्हारी स्मृति के
जो अंगारे !
वे ही बन जाते हैं
निशीथ में तारे!
मैं उन तारों को गिन, गिन
रात बिताता !
मेरे जीवन में नहीं प्रात
अब आता !
कोई आकर है प्राणों में
कह जाता !
आ रहे मिलन के दिन फिर
निकट तुम्हारे !
मधु अमृत किरणवर्शी वे दिन सब बीते,
मिल गये धूल में अपने सब मन चीते!
है नियति घोर तम चारों ओर पसारे !
धधकते तुम्हारी स्मृति के, जो अंगारे !
वे ही बन जाते हैं निशीथ में तारे !

(२०)

पावस ऋतु आई !
नभ के तरु पर श्याम घनों की
लतिकायें छाईं!

कभी मालती मुकुल बरसते,
यूथी के शुचि सुमन बिलसते !
चपला की चंचल बल्लरियाँ,
दिसि - दिसि , सरसाईं!
मन्द्र मृदंगों के ऊर्जित रव,
धरती के प्राणों में नव-नव
उतर रहे-उन्मद झोकों में बहती पुरवाई!
बूँदों की किरणों की क्रीड़ा,
बहती सरितायें में गत-व्रीड़ा,
कलित केतकी की कुंजों की
गंध अंध धाई!
पावस ऋतु आई!

(२१)

फिर फिर आते शेफाली की
                    मधुर गंध के झोके !
कब तक उन स्मृतियों का प्लावन
                    यह दुर्बल मन रोके !
तम में उगा चाँद चौदस का
ले उस मुख का सपना
मेरे रोम-रोम को डसने लगा
विगत वह अपना !
वही शरद है, ज्योत्स्ना के अर्णव में
डूबा जग है,
किन्तु तिमिर से भरता जाता मेरा
जीवन-मग है !
अहोरात्र आनंद चेतना से
वंचित है मेरे,
फिर भी शेफाली की सौरभ-
वात्या मुझको घेरे !

(२२)

कैसे कटे, कैसे कटे !
तिमिरमय यह रात
कैसे कटे, कैसे कटे !
देह मन का ताप
कैसे घटे कैसे घटे !
स्मृति-जड़ित है देश, दिशि, आकाश,
बना योगी विरह-दग्ध पलाश,
प्राण में है पपीहे का वास-
नाम प्रिय का रटे,
कब तक रटे कैसे रटे!
गूँजते हैं पिकी, शुक के गान,
चल रहे हैं मंजरी के बाण,
कौन करता अनवरत संधान,
विशमयी यह वृष्टि धारासार?
तिमिर का आरोप कैसे हटे,
कैसे छँटे कैसे छँटे !

(२३)

पीता हूँ पल - पल
ज्वलित हलाहल-हाला !
कर दिया तुम्हारी सुधि ने
है मतवाला!
एकाकी जीवन, शयन
कुटिल काँटों का-
पर्याय बन गया है
निर्मम घातों का-
टूटता नहीं क्रम अब
तममय रातों का-
जलती है बाहर -भीतर
दुःसह ज्वाला!
दाहते दृष्टि ये तारों के अंगारे
क्षण भर भी आते पास न स्वप्न तुम्हारे,
परिधान देह का रहूँ कहाँ तक धारे-
कब तक मैं पीता रहूँ,
हलाहल हाला !
पीता हूँ पल-पल ज्वलित हलाहल हाला !

(२४)

खोल रुद्ध गवाक्ष आते हो स्वयं यों,
तिमिर के उर में उतरती है किरण ज्यों।

रेणु ज्योतिर्वेणु बन नवगीत गाती,
सुप्ति में सुधि जागरण की लौट आती।

देखती हूँ स्वप्न- आये प्रभा -पथ पर,
अरुण मुख, जलजात-दृग, सस्मित उशाधर।

व्योम-केश अशेष चितिघन से तरंगित,
वक्ष पर श्रीवत्स-सी शशि-रेख अंकित।

पा प्रतनु पद-भार बनते सजल लोचन
स्पर्श से होते पुलकयुत रोम क्षण-क्षण।

पूर्व जागृति के अचानक लौटते क्यों?
तिमिर भर कर लौटती सायं-किरण ज्यों।

(२५)

चाँदनी चैत की आई है।
घर, सर, सरि, उपवन, रेत-खेत ओर-छोर तक छाई है !

फूली बेला हँसता पलाश,
दृग छलते, सेमल, अमलतास,
बन-बीच निवारी का विलास,
करुए ने भी छवि पाई है !

ले गन्ध अन्ध बहती बयार,
मंजरी चूमती बार - बार,
चाँदी के हैं खलिहान-हार,
यह परी उतर मुसकाई है !

(२६)

आया री ! अषाढ़ फिर आया !
बादल के उर में धरती की सुधि का
तीर समाया !
अंबर से उतरी पुरवाई,
प्रिय का संदेशा ले धाई,
मिलन-मोद से भरी
धरा ने कंचुक हरित सजाया!

विचर रहे गिरि-शिखर गगन में,
चपला से चुंबित क्षण-क्षण में,
विकल दिवस के उर में निशि का,
स्वप्न सघन बन छाया !
जागे सुप्त गीत अंतर के,
बहे प्रखर हो निर्झर स्वर के,
घट के संपुट में अकूल हो,
प्रणय - सिन्धु लहराया !
आया री ! अषाढ़ फिर आया !

(२७)

मंजरित डाल रसाल की !

जग को नया यौवन मिला,
मधु हास सुमनों में खिला,
रे मुक्त उर-उर की कला,
टोली मुखर पिक बाल की !

अलित्कुल विकल सा घूमता,
कलि-कुसुमचय को चूमता,
आता समीरण झूमता,
गति मंद मत्त मराल की !

(२८)

यह शिशिर का अंत !
पल रहे प्रति वृन्त पर पतझार और वसंत !

पत्रहीन मधूक सूनी डाल,
फूल को फल को रही है पाल,
खड़ा पीपल किये ऊँचा भाल
प्रज्ज्वलित किसलय – कदम्ब अनन्त !

पीत पत्रों के शयन पर आज,
ले रहा अंगड़ाइयाँ ऋतुराज,
मुखर शुक, नर्तित मयूर समाज,
विकल यौवन सुरभि–शिथिल दिगन्त

(२६)

शुक-पिक-चातक के गीतों में फिर-
-गूँज उठा स्वरमय वसन्त,
पल्लव-पल्लव पर डोल उठा,
हिल्लोल भरा स्मितमय वसन्त!
खुलती कलियों के प्याले से,
मधु ढाल रहा मधुमय वसन्त,
मलयज की मृदुल हिलोरों पर,
आया यह सौरभमय वसन्त !

लो, मानवती के अधरों पर,
पाटल का कोमल हास खिला,
अपने उपवन के मर्मर में कवि को,
फिर भूला गान मिला !

(३०)

विचर रही घनमाला !
उड़ती नभ में पंख पसारे
ज्यों खग पंक्ति अराला।
चित्र-विचित्र हो अंकित,
बहुरंगी किरणों से द्योतित,
यह सौन्दर्य गीतिमय गतिमय,
किसकी है कृतिशाला !

चला गया उठ ऊपर सागर,
है उच्छ्वसित अशेष दिक्-प्रसर,
धूम-फेन से छादित अंबर,
विस्फूर्जित हो रही चंचला
मानों बाड़व ज्वाला।

(३१)

ओ मेरे ध्रुव तारा !
सूख गई जीवन के मरु में
अंतर की रसधारा !
स्नेहसिक्त कर दो सब बंधन,
वंचित रहे न बुझा हुआ मन,
चरम निशित सुधियों के
दंशन की हो मधुमय कारा।

अब विश्लेश नहीं पता झिल,
पथ न कभी हो मेरा पंकिल,
करो प्रकाशित कण-कण तिल-तिल,
मेरे तुम्हीं सहारा

(३२)

खो गया हास तुम्हारा हाय।
कुटिल कंटक-वन में असहाय।।

शरद की ज्योत्स्ना का वह लास,
दिवस का मधुऋतु के उल्लास,
भरा था जिसमें हृदयाकाश-
हो गया सहसा तम में लीन,
काल के विप्लव में असहाय।।
बन गया है मरु सावन मास,
शेष बस ज्वालामय निःश्वास,
और यह जीवन जला जवास-
रात फिर दिन गिनता निरुपाय।

(३३)

पाया स्नेह न कभी तुम्हारा

नयनों के जल में पलता है
जीवन-दीप हमारा।
मैं उकसाता हूँ रह-रहकर सुधि की गीली बाती,
किन्तु तुम्हारी निठुर फूँक से काँप-काँप रह जाती,

मिली न अंचल-ओट, न कर का कोमल करुण सहारा।
पता नहीं क्यों रज बटोरकर तुमने उसे सजाया,
फिर कब इस धारा में निर्मम, तुमने उसे बहाया,

विषम तरंगों में ठुकराया जहाँ न कूल-किनारा।
महाशून्य में रही जागरित दीपक की लघु ज्वाला,
तिमिर-ओक में बिखर गई बन किरणों की जयमाला,
है निर्वाण समीप-तभी तो टूटेगी यह कारा!

(३४)

बिदा माँगी आज प्रातः
कुंद ने मुझसे,
चुन रहा था फूल
पूजा के लिये जब मैं–
वल्लरी पर आज केवल चार पुष्प खिले,
चतुर्वर्ग समान करते प्रेरणा का
दान उज्ज्वल शुभ्र !
कहा उसने– 'जा रहा हूँ सखे !
मैं अब–
तभी आऊँगा करेगा शिशिर
जब फेरा धरा पर फिर!
आज मानसरूप रथ पर निखिल जन के
आ रहा आरूढ़ होने के लिये मधुमास
गंध मधु से जायेंगे भर
सब दिशा आकाश !

(३५)

आज दर्पण में न निज को देख पाती,
किस तरह अभिसार का संभार पाती।

मैं स्वयं बदली कि बदले अवनि-अम्बर,
मर रही है अगति-सी कैसी निरंतर।

प्राण का चातक हुआ है मौन सहसा,
रहा उलटा आज कोई पवन बह-सा।

बन्द सकल गवाक्ष भीतर भा रहे तुम,
क्या स्वयं अभिसारिका बन आ रहे तुम?

तो सुनो यह दीन दर्पण तोड़ती हूँ,
बिन्दु को निज सिन्धु में लो, छोड़ती हूँ!

(३६)

बहा, अलि विशम वसंत-समीर !
　　　　　　　　वेदना से चंचल मन-प्राण,
　　　　　　　　दृगों में अस्थिर अश्रु अजान,
　　　　　　　　किसी की सुधि से चल चुपचाप-
　　　　　　　　　　　　बिंध गये मंजरियों के तीर !

खुल किंशुक के उर का घाव,
गया कोकिल का दूर दुराव,
उठी कलियों के उर से काँप-
　　　　　　　　　　मुग्ध सी सौरभ अंध अधीर !

(३७)

देकर कुन्दों को सुषमा का आभार
गई, वह शरद गई !
उतरी धरती के आनन पर
आभा अनुपम हेमन्तमयी!
लतिका में, तरु-तृण-गुल्मों में
नव-नव तुहिनों के सुमन खिले,
दिग्वधुओं के मधु अधरों पर
चुम्बन तुशार के सहज झिले।
प्रिय के परिरम्भण को अधीर
आतुर-सा-सहसा दिवस ढला,
तम के अंचल में चंचल सी
निकली प्राची में चन्द्रकला।
फिर डोर उठी रे! पश्चिम की वातास
विषम अति शिशिर-सनी।
फिर साल उठी है जीवन में
किसी सुधि की यह विशिख अनी।

(३८)

अपने मिलनोत्सव में अजान
प्रियतमे, किधर हेमन्त गया,
रजनियाँ शिशिर की स्वप्न हुईं,
आया फिर आज वसंत नया।
खुलती व्याकुल उच्छ्वासों में,
कलियाँ, कोकिल की काकलियाँ,
मंजरित आम वन में अविरत,
चलती भ्रमरों की रंगरलियाँ।
सौरभित पवन के झोंकों में,
अज्ञात किसी की छवि बहती,
अरुणिमा तरुण उर की गहरी,
मनसिज की विजय-कथा कहती।
बाँध लो नयन, मन, यौवन में,
मधुमय वसंत की ये घड़ियाँ,
झड़ जायँ न बेसुध जीवन के,
सपनों की कोमल पंखुड़ियाँ।।

(३९)

चन्द्रिका जो थी
सतत शीतलकरा,
शून्य जीवन-गगन को
जिसने भरा।

आज वह सहसा
कुकुभं में खो गई-
आह ! तन का तरु
न अब तक क्यों झरा।

(४०)

था प्राप्त मुझे
जो अमृत भाण्ड बह गया,
मिला है मुझको
घूँट-घूँट अब कालकूट !
है शिरा-शिरा में
उद्वेलित वेदना-सिन्धु,
परिप्लावित जीवन
सीमायें सब गईं टूट !

(४१)

मेरे जीवन का
गरल पिया सब तुमने !
मेरे तन-मन की
व्यथा सही सब तुमने !
अब कहाँ गई
वह शीतल मधुमय छाया ?
क्यों तपते मरु में
छाँह छिपाली तुमने।

(४२)

देखी जो मैंने प्रथम बार,
नित नव बाँकी,
छबि-छटा तुम्हारी
वही शरद ने है आँकी !
नभ जैसे है उर में
स्मृति-दीप असंख्य जले,
पा रहा सतत सब ओर-
तुम्हारी ही झाँकी !

(४३)

अब नहीं लगायेगा
वसंत फिर फेरा,
शारद श्री से नभ
शून्य हो गया मेरा !
नयनों में पावस
उर में ग्रीष्म बसा है-
तन पर डाला
हेमन्त शिशिर ने डेरा !

(४४)

रंजित है प्रति क्षण
आज तुम्हारी स्मृति में,
रिक्तता भर गई है
अनंत संसृति में।
है दान ईष का
कुटिल काल ने लूटा-
वेदना उफनती
रहती है धृति-मति में !

(४५)

जीवन – प्रदीप
अब स्नेह हीन है मेरा,
है दीपमालिका के
तमिस्र ने घेरा
अब यह निशीथ
गहराता ही जाता है–
उजड़ा–उजड़ा है
मेरा रैन बसेरा!

(४६)

दीपमाला है,
अंधकार भरी,
डगमगाती है
जिंदगी की तरी।
कौन पतवार
अब सम्हालेगा–
साँस तूफान है
त्वरा से भरी !

(४७)

जिंदगी
दर्द हो गई मेरी,
दर्द ही
अब दवा हुई मेरी !
आँसुओं से न
आग बुझती है,
आग यह
संगिनी हुई मेरी !!

(४८)

तुम्हारी स्मृति
बनी है दीपमाला,
रही भर
वेदना का जो उजाला !
यही पाथेय
है अब एक मेरा–
हुई गति
शेष जीवन की अराला !

(४९)

तुम्हारे पुष्प
यमुना में खिले जब,
बहुत से दीप
धारा में जले तब !
तुम्हारा पंथ
ज्योतिर्मय निरंतर-
अंधेरा ही रहा
मेरे लिए अब !!

(५०)

खोजता हूँ
पयोधरा-सी धवल वह दृष्टि,
खोजता हूँ
मधुर अधरों की सुधामय वृष्टि,
खोजता हूँ
कल्पलतिका का सहज आश्लेश-
खोजता हूँ
चाँदनी की वह निरंतर सृष्टि !

(५१)

कहाँ है
नयन स्वागत में विकसते,
कहाँ है
वचन जो सब व्यथा हरते,
कहाँ है
चन्द्रिका शुचि शील की वह,
बिना जिसके नयन मन प्राण तपते !!

(५२)

दर्द हद से
गुजर गया मेरा,
पिछली यादों ने
है मुझे घेरा !
सर्द आहों में
जल रहा हूँ मैं-
डूब दिनमान
अब रहा मेरा !!

(५३)

भरा था तुमने
अमृत से रिक्त जीवन पात्र!
रह गया वह
आज होकर भग्न जर्जर गात्र!
नहीं आशा
जहाँ अटकें ये तड़पते प्राण-
चेतन मेरी
तुम्हारी प्रज्ज्वलित स्मृति मात्र!

(५४)

चाँदनी तुम्हारी
छाया-सी लगती थी,
कुंदों में
दंतावलि खिल-खिल उठती थी,
अब बीत गये
वे दिन सब, वे सब रातें-
ज्वालामय है
अब जो शीतल धरती थी !!

(५५)

जीवन का
विश प्रतिपल पीता रहता हूँ,
निज, असफलता
का स्तूप बना फिरता हूँ!
तुम दूर,
निरंतर अंतर मेरा दहला-
दावानल- सा
मैं अनलायिल जीता हूँ !!

(५६)

दर्द को
आज मैंने पहचाना,
प्यार
कहते किसे हैं, अब जाना !
मेरे
उपवन के फूल सूख गये-
अब
असंभव है उनका खिल पाना !

(५७)

दिन हैं वे ही, वे ही रातें,
ऋतुओं का क्रम भी है वैसा,
सूखा-सूखा, अतिशय नीरस,
सब कुछ लगता उजड़ा जैसा!
मेरे जीवन की सुख-समष्टि-
सब गई तुम्हारे साथ आह !
धौंकनी-सदृश आती - जाती,
हैं साँसें, अब जीवन कैसा ?

(५८)

प्रतिरूप तुम्हारा
शुभ्र अनूप शरद आई,
सब ओर
तुम्हारी ही सात्विक, सुशमा छाई !
फिर भी ये नयन
विकल दृगजल में खो जाते-
मृगजल से है
कब प्यास किसी की बुझ पाई !

(५९)

बना जीवन मेरा तुशानल है,
उच्छ्वसित कालसर्प प्रतिपल है !
साँस का भार अब नहीं झिलता-
शेष कोई न और संबल है !

(६०)

तुमने जीवन में अमृत घोल दिया,
पूर्ण जीवन का मार्ग खोल दिया !
किन्तु फिर अन्धकार घिर आया-
तुमने असमय में साथ छोड़ दिया !

(६१)

तुमने संकट सभी हरे मेरे,
कवच बन कर सदा रहीं घेरे !
अब मैं अवलंबहीन निःसंबल-
प्राण में विशव्यथा घुली मेरे !

(६२)

जिंदगी भार हो गई मेरी,
साँस दुश्वार हो गई मेरी !
दिल को दिन में दबा के रखता हूँ-
रात बरसात हो गई मेरी !!

(६३)

जो गया, गया, न आयेगा,
किन्तु अंतर न शान्ति पायेगा !
बुझ गई है जिजीविशा मेरी -
कौन यह ज्योति अब जगायेगा !!

(६४)

स्वप्न में ही कहो,
कहाँ हो तुम ?
मुझको भी ले चलो
जहाँ हो तुम !
सहज जीवन
नहीं रहा मुझको-
मृत्यु में ही मिलो,
मिलो तो तुम !

(६५)

आज फिर खिल
उठी है शेफाली,
यह तुम्हारी
मिसाल है आली !
यह तिमिर में
प्रकाश भरती है-
तुमने मधुगंध
से भरा मुझको !

(६६)

आज फिर से
खिली है शेफाली,
शुभ्रता से
भरी है हर डाली!
शील में, रूप में,
समर्पण में-
यह तुम्हारी
मिसाल है आली !!

(६७)

सूखे जीवन के
रस स्रोत सब मेरे
मरु की अनंतता
है अब मुझको घेरे
हिम की जड़ता
या शेष तपन सिकता की,
निशि -दिवस
लगाते रहते निष्फल फेरे !!

(६८)

कुछ और तरह से
रात दिवस अब आते,
सायं - प्रातः
विश प्याले मुझे पिलाते !
वह छल रहा
है रोम-रोम में मेरे-
कंठगत हो रहे प्राण
न आते जाते !!

(६९)

उषा - सी
तुम उगीं जीवन - गगन में,
भरा आलोक सहसा
प्राण मन में !
अंधेरा ही अंधेरा
रह गया अब-
छिपीं विद्युत - सदृश
तुम सांध्य घन में !!

(७०)

मेरे ही उर के शोणित से
रंगे पलाश सघन!
कटे हुए खेतों सा लगता
क्षत - विक्षत जीवन !
कल वसंत की राका बन कर तुम
सहसा आईं,
प्राणों में स्मृति के अंगारों
की दहकन छाई!
मैं देखता रहा कुछ क्षण ये
सार्थक हुए नयन !!

(७१)

दिन ठिठुर रहा कुहरे के
बादल छाये !
वन, बाग, हार सब हैं घन तिमिर छिपाये ?
सरसों के फूलों की यह टिमटिम बाती,
है किरण ज्योति की केवल वही जगाती,
वह भेज रही लिख-लिख वसंत को पाती-
आओ हम सब मिल
जग की हरें व्यथायें !
आह्वान सुना, ज्वाला किसलय बन जागी,
ऊर्जित पलाश ने वन में आग लगा दी,
बेला ने अपनी विगल हँसी बिखरा दी,
मंजरियों ने सौरभ के गीत सुनाये !
कुंठाओं की कोठरियों के अधिवासी
संत्रासों के श्वापद चिर तिमिर-विलासी,
है जिन्हें आत्म निर्वासन की प्रिय फाँसी
वे त्रपाहीन जन पत्रहीन बन भाये !
वे देख न पाये मंगल क्रान्ति उषा -सी-
स्वर्णिम किरणों से ये चर-अचर नहाये

(७२)

धूमिल चाँदनी भरे लगते

भीगे-भीगे पावस के दिन !

घन में अंतर्हित रवि मण्डल शशि सा शोभन,
दिग्मंडल धारे है निशि का प्रावरण वरण,
ये दिवाभिसार हेतु उद्यत विद्युत क्षण क्षण,
मेघों के वन में रखती हैं निज पग गिन; गिन !
पुरवाई के झोकों से तरु झुक-झुक जाते,
बादल से होड़ लगा वे जल हैं बरसाते ,
गरजना गगन की कितने चातक, मयूर गाते-
नृत्यरत हरित सब शाद्वल, लताकुंज, तृण-तृण!

भीगे-भीगे पावस के दिन !!

(७३)

दर्द ही दर्द बेदर्द मुझको मिला,
जिंदगी का सुमन कंटकों में खिला !
वार पर वार झेला किया अनवरत,
शान्ति-सुख छोड़ मुझको हुए भूमिगत!
प्राण में मैं पपीहा बसाये हुए
घूँट पर घूँट विश जा रहा हूँ पिए !
मैं जिया ताप की भिट्ठियों में जिया,
अंधड़ों में न बुझने दिया पर दिया!
दूर पर दूर होता किनारा गया,
मैं बहा किन्तु मझधार बन रह गया !
खे चलो, ले चलो डूबती है तरी,
जीर्ण है और है कोटि छिद्रों भरी!
अब न कोई सहारा कहीं शेष है,
देव ! कितना तुम्हारा अगम देश है।

(७४)

पार कर पार रे!
ऊर्ध्व-पथ चढ़ रही,
बढ़ रही धार रे !
खुल दल कमल पर नवल प्रातः किरण,
सोहती, ध्वनित संगीत सुन मधुर स्वन,
पवन अनुकूल द्रुत चरण कर संवरण,
हार उर की, न उस पार नीहार रे !
रोध की, शोध निज बोध, मिथ्या कथा,
सर्वथा दूर होगी यहाँ जो व्यथा,
इष्ट अति मिष्ट होता नहीं अन्यथा-
सार सिद्धि रह जाय, बह जाय संसार रे !
पार कर पार रे! ऊर्ध्व-पथ चढ़ रही, बढ़ रही धार रे !

(७५)

छीनते हो क्षण-क्षण जीवन,
कौन तुम आते मृत्यु-चरण?
विवश से सुख के दिवस अजान,
सरस वे तन, मन, यौवन, प्राण,
गये सब-बिफल सकल अनुमान,
शेष केवल स्मृति का दंशन।
निखिल यह जड़-जग, जीव-निकाय,
तुम्हारे दृग-पथ पर असहाय,
बिछ रहे दीर्प, छिन्न, हतकाय,
फैलता दिशि-दिशि प्रलय-ज्वलन।